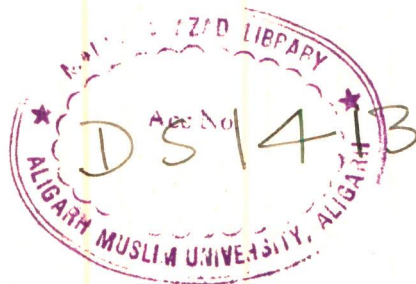


Fed In Computer



DS1413



CHECKED-2002

L

प्राक्कथन =====

प्रस्तुत लघु गौध-ग्रन्थ अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय हिंदी विभाग की सम्पत्ति उपाधि के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है। इसका स्वीकृत विषय है- "संस्कृत काव्यशास्त्र में शब्द शक्ति का स्वल्प" ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के निर्माण में अनेक सज्जनों, लेखकों और विद्वानों से उपकृत व लाभान्वित हुई हूँ । अतः ग्रन्थ समाप्ति पर उनके प्रति आभार व्यक्त करना मेरा पुनीत कर्तव्य है ।

परम श्रेय गुरुदेव डॉ० प्रेमचन्द गुप्तः प्रोफेसर एवं भूतपूर्व अधिष्ठाता कला संकाय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के निर्देशन में मैं यह कार्य पूर्ण किया है । उनकी ज्ञानालोक किरण ही मेरे पथ का सम्बल रही है। पूज्य गुरुदेव के प्रति शब्दों से आभार व्यक्त करना अक्षम्य अमराध होगा । अतः मेरी मौन श्रद्धा ही उनके चरणों में समर्पित है । परम श्रेय/गुरुमातः आंटी जी की बहुत आभारी हूँ जिनके सौम्य स्वभाव का स्नेहाशील सदैव मुझे मिलता रहा है ।

विभागाध्यक्ष डॉ० रवीन्द्रप्रसादः प्रोफेसर हिन्दी विभाग के उपयोगी एवं बहुमूल्य सुझावों से सदैव लाभान्वित होती रही हूँ । अतः इनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना पुनीत कर्तव्य समझती हूँ ।

ग्रन्थ के संकलक श्री जे.पी. ठुकराल एवं श्रीमती ठुकराल की भी आभारी हूँ, जिन्होंने सदैव उदारता का परिचय दिया है ।

इस अवसर पर मैं उन समस्त विद्वजनों की आभारी हूँ जिन्होंने अपनी अमूल्य सम्मतियाँ प्रेषित कर अनुग्राहीत किया है ।

अन्त में एक लघु निवेदन और- विषय की विशिष्टता व अपनी लघु शक्ति और अत्यङ्गता की सीमा इन दोनों से मैं भली-भाँति परिचित हूँ । यह मेरा प्रथम प्रयास है अतः प्रारंभिक आयोजनों में जिन-जिन वृत्तियों की कल्पना सहज ल्येण संभाव्य है, वे संश्यतः सभी यहाँ प्रचुर रूप में मिलेंगी, विद्वानों के सम्मुख अपने पक्ष-अपक्षके प्रयत्न को रखने में ही विकास की किरणें झलकती हैं । इसी प्रेरणा से उत्साहित होकर मेरा यह यत्किंचित् प्रयास विद्वानों के सम्मुख सविनय प्रस्तुत है। इस प्रयास में जो असफलताएँ हैं, वे सब मेरी हैं, सफलताओं का वास्तविक श्रेय श्रेष्ठ गुरुदेव को ही है ।

अस्तु, माँ धीना-पाणि रक्षा करें,

कृपाकांक्षिणी,

।रीता गुप्ता।

अनुक्रमणिका
=====

प्रथम अध्याय काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विकास 1-56

- I क। संस्कृत काव्य शास्त्र
- II ख। हिंदी काव्य शास्त्र
- III ग। ऐतिहासिक काव्यशास्त्र
- IV घ। आधुनिक कालीन काव्यशास्त्र

द्वितीय अध्याय 57-80

शाब्द शास्त्र पर कार्य करने वाले प्रमुख
आचार्यों एवं उनके कार्यों का परिचय-
ध्वन्यालोक, अभिनवकृत लीचन, अभिनव
भारती काव्यप्रकाश, साहित्य दर्पण,
रस गंगाधर के विशिष्ट संदर्भ हैं ।

तृतीय अध्याय 81-185

संस्कृत काव्यशास्त्र में शाब्द शास्त्र
लक्षण तथा श्रौतव्य-
- अभिधा
- तात्पर्या
- लक्षणा
- व्यंजना

उपसंहार 186-194

परिशिष्ट सहायक एवं सन्दर्भ ग्रंथों की सूची 195-199.

कोश-

=====

प्रथम अध्याय - काट्यशास्त्र का संक्षिप्त विकास

=====

काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विकास

1.3। संस्कृत काव्यशास्त्र

यह मत निर्विवाद है कि काव्यशास्त्र का गंभीर अध्ययन एवं विवेचन ईसा के बहुत पहले ही प्रारंभ हो गया था । यद्यपि भारतीय संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा का शुभारंभ आदि आचार्य भरतमुनि के " नाट्यशास्त्र " से माना जाता है, तथापि " नाट्यशास्त्र " के पूर्व कतिपय इस प्रकार के ग्रंथ मिलते हैं जिनमें संस्कृत काव्यशास्त्रीय परंपरा का अन्वेषण किया जा सकता है । इस प्रकार के ग्रंथों में वैदिक साहित्य, बाल्मीकि रामायण, यास्क रचित " निरुद्ध " आदि प्रमुख हैं । तक्षि में इनका विवेचन इस प्रकार है -

वैदिक साहित्य से केवल चार वेदों का ही बोध नहीं होता अपितु उस समस्त साहित्य का बोध होता है जो चारों वेदों एवं उनकी मंत्र संहिताओं से किसी भी प्रकार सम्बद्ध हैं । अग्वेद वैदिक साहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ है जिसका रचनाकाल 2500 ई० पू० के आसपास माना जाता है । सोमरस के प्रसंग में " रस " एवं " उपमा " पद का स्पष्ट उल्लेख वैदिक साहित्य में काव्यशास्त्रीय परंपरा का स्पष्ट प्रमाण है ।¹

इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में उपमा, त्यक्त, त्यक्तातिशयोक्ति आदि अलंकारों के प्रायोगिक रूप भी परिलक्षित होते हैं । उपनिषद् साहित्य में आनंद के अर्थ में " रस " पद का प्रयोग किया गया है ।²

1- 1.3। दधानः कलशो रसम् । अग्वेद, 96/3/13

1.3। ईयुषी राग मुपमा शाश्वतीनाम् । वही, 1/113/15

2- रसो वै तः । तैत्तिरेयोपनिषद्, 11/7/1

अलंकारों के अतिरिक्त रस एवं छन्द विषयक वैदिक कवियों की जानकारी का भी पता चलता है । दाशरार्ण सूक्त में युद्ध का सुंदरतम वर्णन प्रस्तुत किया गया है, जहाँ हमें इन्द्रस्तुति प्रसंग में वीररस की अनुभूति हो जाती है । इसी प्रकार विभिन्न ऋग्वेदिक सूक्तों में शृंगाररस की मधुर अभिव्यक्ति भी मिलती है । पुरुरवा- उर्वशी सम्वाद विप्रलेभ शृंगार² का मनमोहक रूप है। यम-यमी संवाद भी कुछ इसी प्रकार का है । समग्र ऋग्वेद छन्दोबद्ध है । इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैदिक कविता के साथ- साथ वैदिक कवि की दृष्टि काव्यशास्त्रीय तत्वों की ओर भी रही थी ।

महाकवि वाल्मीकि प्रणीत³ रामायण " रचनाकाल की शुत्थियों से उल्का हुआ ग्रंथ है । अनेक विद्वज्जनों के मतानुसार इसका रचना काल 2500 ई० पू० से लेकर 200 ई० तक माना गया है । यद्यपि वाल्मीकि रामायण काव्यशास्त्रीय प्रबंध नहीं है, फिर भी काव्यशास्त्रीय धारणाओं के विकास में इसका महत्वपूर्ण योगदान है। महाकाव्य सम्बन्धी धारणा का आदि उपजीव्य ग्रंथ वही है । काव्य को परिभाषित करने का श्रेय आदि काव्य रामायण को ही है । वाल्मीकि प्रणीत रामायण में शृंगार, हास्य, कर्ण, रोद्र, भयानक आदि रसों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है । अनुष्टुप छंद एवं लौकिक छंद शास्त्र की व्यवस्था का बीजारोपण सबसे पहले रामायण में ही दृष्टिगोचर होता है ।⁵

-
- 1- ऋग्वेद, 1/151/6, 2/1/9
 - 2- वही, 10/95/3, 10/10/7
 - 3- द्रष्टव्य ध्वन्यालोक, 1/5
 - 4- रसै : शृंगारकर्महास्यरौद्र भयानकै : । वा० रामायण, बालकांड, 2/9.
 - 5- मानिषाट प्रतिष्ठार्त्विमगमः शाश्वती समाः ।
यत्कीचिमिथुनादेकम वधीः काममोहितम् ।।
ध्वन्यालोक, 115 के आधार पर ।

“यास्क” प्रणीत “निरुक्त” कुछ स्पष्ट रूप से हमें काव्यशास्त्र विषयक सकेत प्रदान करता है। यास्क के निरुक्त में उपमालंकार का सकेत भूतोपमा, स्वोपमा, तिदोपमा, लुप्तोपमा आदि के नाम से किया है।¹ यही नहीं उन्होंने उपमा अलंकार का लक्षण किसी पूर्ववर्ती गण्य नामक आचार्य के नाम से उद्धृत किया है। इस तथ्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि यास्क 11700 ई. से पूर्व भी काव्यशास्त्र विषयक मान्यताएँ स्थापित की जा रही थीं। कतिपय मान्यताएँ स्थापित की जा चुकी थीं, जिनका सकेत विभिन्न ग्रंथों में मिलता है।

काव्यशास्त्र की उपलब्ध परंपरा की सर्वांगपूर्ण निश्चित रूप नारं इस काल तक के किसी भी ग्रंथ में उपलब्ध नहीं होती हैं। उपर्युक्त विविध प्रतंगों के आधार पर हम यह अनुमान अवश्य लगा सकते हैं कि काव्यशास्त्र का उदय निश्चित रूप से हो चुका था।² अक्षरपराजोद्धर काव्यशास्त्र की उत्पत्ति का संबंध नटराज शंकर से जोड़ते हैं। नाट्यशास्त्र पर रचित योगमाला ग्रंथ को भगवान् शंकर से सम्बद्ध कर “योगमाला” के द्वारा भगवान् शंकर ने विश्वत्वात्र को ताण्डव, लास्य, नृत्य और नर्तन का उपदेश किया था— ऐसा सकेत किया है।³

राजोद्धरानुसार शंकर ने ब्रह्मा को सर्वप्रथम काव्यशास्त्र का उपदेश किया था तथा ब्रह्मा ने अपने मानस जात अठारह शिष्यों को यह ज्ञान प्रदान किया। उन अठारह शिष्यों में सम्पूर्ण काव्यशास्त्र को अठारह भागों में विभक्त कर प्रत्येक भाग पर एक-एक ग्रंथ लिखा है।⁴ इन दोनों ही आचार्यों द्वारा दी गई नामावली में बहुत से नाम तथा उनकी सत्ता प्रामाणिक नहीं है।

1- यास्क निरुक्त, 3/13/18

2- अथात उपमा यद् अतद् तत् सहसामिति गण्यः। निरुक्त, 3/13

3- भावप्रकाशन, द्वितीय अधिकरण, पृष्ठ 48

4- काव्य मीमांसा, विहार राजभाषा परिषद्, अध्याय- प्रथम, पृष्ठ 1.

किंतु "भाष प्रकाशन" में नारदमुनि का नाम आया है । और इस समय षड्वीदा से प्रकाशित "नारद संगीत" नामक ग्रंथ संभवतया उन्हीं का है । इसी प्रकार राजबोखर द्वारा प्रदत्त नामावली मात्र कवि की कल्पना ही नहीं है ।¹ क्योंकि इस सूची में आचार्य भरत तथा नन्दिकेश्वर के भी नाम हैं, जिनके ग्रंथ प्राप्त एवं प्रकाशित भी हैं । फिर अन्य नामों के ऊपर विश्वास न करना संगत नहीं है । आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में भी तुवर्गनाभ, कुचमार आदि आचार्यों के नाम मिलते हैं ।² इन नामों की पुष्टि वात्स्यायन के कामशास्त्र से भी होती है ।³ आचार्य भरत ने स्वयं भी अपने ग्रंथ की अंतिम कोष्ठल, वास्त्य, शाण्डिल्य तथा धूर्तिल नामक आचार्यों का उल्लेख किया है ।⁴ अभिन्न गुप्त ने भी "अभिन्नभारती" में एक स्थान पर लिखा है कि नाट्यशास्त्र की कुछ आचार्यों⁵ पूर्व आचार्यों की हैं जिन्हें भरत ने ग्रंथ में समाविष्ट कर लिया है । इसी प्रकार के कुछ अन्य तुम्बरू, वाराण, पदभू, द्रोहिणी, व्यास, आर्जुन, कात्यायन, राहुल, छण्डक आदि आचार्यों का नामालेख भाषप्रकाशन, नाट्यशास्त्र, अभिन्न भारती आदि ग्रंथों में मिलता है । इन सभी प्राप्त नामावली के आधार पर इतना तो स्वीकार्य है कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में काट्यशास्त्र पर अनेक ग्रंथ लिखे जा चुके थे । यद्यपि अधिकांश ग्रंथ आज अनुपलब्ध हैं परन्तु इनकी सत्ता के प्रमाण प्राचीन ग्रंथों में देखने को मिलते हैं ।⁶

1- एत.के.हे. : हिस्ली ऑफ संहृत पोडटिक्स। प्रथम भाग ।

2- नाट्यशास्त्र: 9/130, 9/144, 9/166

3- कामसूत्र, 1/1/13, 1/1/17

4- कोष्ठलादिभिरैतैर्वा वास्त्य शाण्डिल्य धूर्तिलः ।

एतच्छास्त्रं प्रयुक्तं तु नराणां बुद्धिर्वर्धनम् ॥

5- ता एता स्यायी एक प्रच्छकतया पूर्वविमर्शकणायैव पठिताः ।

मुनिना तु सुख संग्रहाय यथा स्थानं निवेशिताः । अभिन्न भारती, अध्याय-6

6- एत.के.हे. "स्टडी इन दि हिस्ली ऑफ संहृत पोडटिक्स" इन्दोइरान, पृ021

पी. सी. कणे : "साहित्यदर्पण", इन्दोइरान, पृष्ठ 39

ऐदिक काल से लेकर ईसा पूर्व 500 वर्ष पाणिनि के काल तक काव्यशास्त्र के संदर्भ में पर्याप्त अध्ययन और अध्यापन हुआ है, इसके विविध स्मरण सकेत प्राप्त होते हैं । परन्तु ग्रामाणिक शास्त्रीय निरूपण हमें भरत के नाट्यशास्त्र तथा इन्होंने के समतामयिक नन्दिकेश्वर के अभिनय दर्पण में मिलता है । कृत्तिय समय पूर्व भरत एवं नन्दिकेश्वर एक ही व्यक्तित्व के रूप में मान्यता प्राप्त थे, किंतु अभिनय दर्पण¹ नामक ग्रंथ के प्रकाशित होने के उपरान्त लगभग यह धारणा पूर्णतः बदल चुकी है । अब यह प्रायः निश्चित मत है कि नन्दिकेश्वर एवं भरत दोनों अलग-अलग हैं । आचार्य भरत के विविध उद्धरणों से यह भी स्पष्ट है कि नन्दिकेश्वर भरत से पूर्व हुए थे । काव्यमीमांसा में प्राप्त² रसाधिकारिकनन्दिकेश्वर से पता चलता है कि नन्दिकेश्वर रस विषय के प्रथमाचार्य थे । कामशास्त्र³ और संगीतशास्त्र⁴ में उनके आचार्यत्व की घोषणा की गई है ।

इनके व्यक्तित्व के संदर्भ में मतान्तर हैं । कुछ विद्वान इन्हें तन्त्र, पूर्वमीमांसा, लिङ्गायत, शैव आदि सिद्धान्तों का अनुयायी मानते हैं तो कोई इन्हें शिव⁵ का अवतार मानते हैं । और दक्षिण में इनकी पूजा का विधान है इसका सकेत करते हुए इन्हें दाक्षिणात्य भी सिद्ध करते हैं । भाव प्रकाशन में शिव की आज्ञा से ये भरत तथा उनके पाँच शिष्यों को नाट्यशैली की शिक्षा देते हैं⁶ । इस आधार पर यह माना जाता है कि भरत को नाट्यशास्त्र की

-
- 1- मनमोहन घोष द्वारा सम्पादित एवं कलकत्ता से प्रकाशित ।
 - 2- काव्यमीमांसा, काव्य रहस्य प्रकरण, पृष्ठ 1, वि.रा.भा.परिचंद, पटना ।
 - 3- बलदेव उपाध्यायः साहित्यशास्त्र, भाग 1, पृष्ठ 13
 - 4- संगीत रत्नाकर, पृष्ठ 5-6, श्लोक 16-17
 - 5- सौन्दर्य लहरी, परिचय, पृष्ठ 10, सम्पादक, शास्त्री आचार्य ।
 - 6- भाव प्रकाशन, दशम अधिकरण, पृष्ठ 285-87

शिक्षा अथवा प्रेरणा नन्दिकेश्वर ने प्राप्त हुई थी । नाट्यशास्त्र में स्पष्टतया स्वीकारा गया है कि तण्डु दूसरा नाम नन्दिकेश्वर ने अंगारों, करणों और रेवकों के अभिनय की शिक्षा भरत को दी थी । अश्विन्म भारती में भी नन्दन और भारत को तण्डु और मुनि इन दूसरे नामों से संकेतित किया गया है ।

कतिपय प्रख्यात एवं उद्भावक आचार्यों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :-

111. भरतमुनि का नाट्यशास्त्र- द्वितीय शती। 200 बी.सी.।

नाट्यशास्त्र के रचयिता के सम्बन्ध में विद्वानों में अलग-अलग धारणाएँ हैं । काव्यप्रकाशादयों काव्यप्रकाश पर लिखी हुई एक प्रसिद्ध टीका है । इसके टीकाकार ने नाट्यशास्त्र को " अग्निपुराण " के बाद की रचना माना है । मैकडॉनल महीदय ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में नाट्यशास्त्र को छठी शताब्दी की रचना सिद्ध करने की चेष्टा की है । डॉ० डे नाट्यशास्त्र को एक ही व्यक्ति की रचना नहीं मानते । काणे ने अपने साहित्य-दर्पण की भूमिका में भरत का समय पहली शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी के मध्य में निश्चित किया है ।

नाट्यशास्त्र के रचयिता के सम्बन्ध में भी विविध मत हैं । डॉ० एस्.के.डे और काणे साहब उसको किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं मानते उनकी धारणा है कि भरतमुनि ने संक्षिप्त नाट्यशास्त्र लिखा था, परन्तु विविध विद्वानों द्वारा इसका ऊड़न हो चुका है । अधिकांशतया विद्वान नाट्यशास्त्र में उल्लिखित शीघ्रः प्रस्तारिण कोटलः कथमिच्छति" इस वाक्यांग को प्रक्षिप्त मानने के पक्ष में हैं । अतः यह निश्चित सा हो चुका है कि नाट्यशास्त्र आचार्य भरतमुनि की ही रचना है ।

इसमें 36 अध्याय तथा पाँच सहस्र श्लोक लगभग हैं । छठे अध्याय में रस का विवेचन किया गया है । यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण है । चौदहवें अध्याय में छन्दोल्लेख मिलता है । सोलहवें में चार अलंकारों का विवेचन मिलता है । अठारहवें अध्याय में दशात्म्यों की वर्णन की गयी है और बीसवें अध्याय में नाट्यमान्तरः वृत्तियों का निरूपण मिलता है । अध्याय बाह्य में नायक-नायिका भेदों का निर्देश मिलता है । प्रमुख अध्याय यही हैं । अन्य अध्यायों में नाट्य के विविध प्रकारों का निरूपण मिलता है ।

12। मेधाविनः-। चतुर्थ शातक- 400 ए.डी.।

इनका उल्लेख भामह ने अपने काव्यालंकार में राजशेखर ने अपनी "काव्यमीमांसा" में छै सप्ताह के साथ किया है, किंतु अभी तक इनका लिखा हुआ कोई काव्यशास्त्र का ग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ ।

13। भामहः। छठशातक का पूर्वार्ध।

भामह ही भरत के अनन्तर मान्य आचार्य हैं । इन्होंने अलंकार शास्त्र को नाट्यशास्त्र की परतन्त्रता से मुक्त कर एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में आलोचकों के सामने प्रस्तुत किया । भामह से पूर्ववर्ती मेधावि रूद्र नामक आचार्य का परिचय कम ही मिलता है । भामह के पिता का नाम था-- रक्षित गोमी । ये कश्मीर के निवासी प्रतीत होते हैं ।

भामह का ग्रंथ काव्यालंकार छः परिच्छेदों में विभक्त है जिनमें काव्य के साधन, लक्षण तथा भेद का प्रथम परिच्छेद है । अलंकारों का द्वितीय, तृतीय परिच्छेद में वर्णन है चतुर्थ परिच्छेद में दस दोषों का, पंचम परिच्छेद में न्यायविरोधी दोष का, छठम परिच्छेद में शाब्द शुद्धि का वर्णन किया गया है। लगभग 400 श्लोक हैं । भामह के समस्त सिद्धान्त इस शास्त्र में मान्य हैं । इनके विशिष्ट सिद्धान्त हैं--।।।।। शाब्द तथा अर्थ दोनों का

काव्य होना -- शब्दार्थी इतिहासी काव्यम्, 12। भरत के द्वारा वर्णित दशा गुणों का गुणत्रयी। माधुर्य, ओज तथा प्रसाद। में अन्तर्भाव। 13। चन्द्रोत्ति को सकल अंकारों का प्राण मानना । 14। दशाविध दोहों का सुन्दर विवेचन 15। " रीति " पर आग्रह न मानकर काव्यगुणों पर आस्था ।

13। टण्डी ।सप्तम शास्त्री।

इनका लोकप्रिय ग्रंथ " काव्यादर्श " है । इसके कतिपय सिद्धान्तों का निर्देश तथा अनेक श्लोकों का अनुवाद कन्नड़ भाषा के प्राचीन ग्रंथ " कविराजमार्ग " तथा सिंधली ग्रंथ " सियस-लकर " । स्वभाषालंकार। में किया गया है और ये दोनों अष्टम शास्त्री के ग्रंथ माने जाते हैं । इस प्रकार "काव्यादर्श" ग्रंथ अपने विषय में विशेष प्रख्यात तथा लोकप्रिय रहा है ।

इस महनीय ग्रंथ में चार परिच्छेद हैं, श्लोक लाभग सादे उः ती हैं । पहले परिच्छेद में काव्य का लक्षण-भेद, रीति तथा गुण का विस्तृत विवेचन है दूसरे में अर्थालंकारों का, तृतीय में शब्दालंकारों का। विशेषतः यमक का। तथा चतुर्थ में दशाविध दोहों का सुंदर वर्णन है । ये प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने वेदार्थ तथा गौड़ी रीति के पारस्परिक भेद को स्पष्टतया दिखलाया । इस प्रकार ये रीतिसम्प्रदाय के भी मार्गदर्शक हैं । टण्डी दक्षिण भारत के पल्लव नरेश सिंहविष्णु ।सप्तमशास्त्री। के सभा पंडित माने जाते हैं ।

14। वामन-।अष्टम शास्त्री, उत्तरार्ध।

कल्हण पंडित के अनुसार वामन काश्मीर नरेश जयपिड।779-813 ई0। के मंत्री थे । वामन ने भवभूति के " उत्तररामचरितम् " का एक पद्य उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। फलतः ये भवभूति।अष्टम शास्त्री पूर्वाधि। से परवर्ती हैं तथा राजशेखर से । 10 वीं शास्त्री। प्राचीन हैं ।

क्योंकि काव्यमीमांसा में वामन के कतिपय सूत्र उद्धृत किये गये हैं ।

इनके ग्रंथ का नाम है-- काव्यालंकार सूत्र । इसमें काव्य की आलोचना सूत्रों में प्रस्तुत की गयी है । वामन ने इसके ऊपर अपनी वृत्ति भी अलिखी है । सूत्रों की संख्या 319 है एवं ग्रंथ पाँच परिच्छेदों में विभक्त है । वामन रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक हैं । रीति को काव्य की आत्मा मानने का प्रयत्न इन्होंने ही प्राप्त है- रीतिरात्मा काव्यस्य ।

उद्भट । अष्टमशती उत्तरार्द्ध।

१-----

अलंकार सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्यों में ये नितांत प्रख्यात हैं । ये आचार्य वामन के समकालीन आचार्य थे । उद्भट के उपलब्ध ग्रंथ हैं- काव्यालंकार सार-संग्रह । प्रतिहारेन्दुराज ने इनके दूसरे ग्रंथ का निर्देश किया है, वह था भामह के ग्रंथ की ' भामह विवरण' नाम्नी टीका जो उपलब्ध नहीं है । इनकी तीसरी कृति- कुमार संभव काव्य- कालिदास के कुमार संभव के आदर्श पर लिखित एक लघु काव्य है । ' काव्यालंकार सार संग्रह ' में अलंकारों का ही विवेचन है, परन्तु यह विवेचन विशेष आलोचनात्मक तथा वैज्ञानिक ढंग पर किया गया है ।

16। रुद्रटान्वम शती का पूर्वार्द्ध।

आचार्य रुद्रट वामन तथा उद्भट के पश्चात्त्वर्ती आचार्य हैं । ये भी काश्मीर के रहने वाले थे । राजशेखर ने अपने 'काव्यमीमांसा' में रुद्रट के द्वारा उद्भाषित ' वक्रोक्ति' नामक शब्दालंकार का निर्देश किया है । रुद्रट की वक्रोक्ति की कल्पना निराती है तथा प्राचीन आलंकारिकों से मेल नहीं खाती । इनके काव्यालंकार में 16 अध्याय है तथा इसमें 734 श्लोक हैं । इनमें काव्यत्वस्य, शब्दालंकार, चार रीतियाँ, वृत्तियाँ, चित्रबंध, अर्थांशालंकार, दोष, रस तथा नायिका भेद का विवेचन किया गया है । इसमें

रस का विस्तार से वर्णन है। रूद्रट प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने अलंकारी का वर्गीकरण वैज्ञानिक शैली पर किया है ।

171 आनंदवर्धन । नवम शती का उत्तरार्द्ध।

आचार्य आनंदवर्धन के ग्रंथ ध्वन्यालोक ने संस्कृत काव्यशास्त्र में एक प्रकार से पुनान्तर उपस्थित कर दिया है। संस्कृत साहित्य के सभी संप्रदाय इसके समक्ष फीके से लगते हैं । अलंकार और रीति की तो बात ही क्या है। ध्वनि के अन्तर्गतस्त भी समेट लिया गया है । इसके सिद्धान्तों को सभी आचार्यों ने बड़े सम्मान के साथ स्वीकार किया है। पंडित राज कान्नाथ ने भी जिन्होंने प्रायः सभी आचार्यों की आलोचना की है, ध्वनिकार को ही आदर्श माना है । उक्ति द्रष्टव्य है -

“ध्वनिकृतमालंकारिक सरणिष्वपस्थापकत्वात्”

इसी प्रकार राजशेखर ने भी लिखा है --

ध्वनिनातिर्गभीरेण काव्यतत्त्वनिर्देशना ।

आनंदवर्धनः कस्य नास्तीदानन्दवर्धनः ।।

उपयुक्त पंक्तियों से ध्वनिकार का महत्त्व स्पष्ट प्रकट है ।

“ध्वन्यालोक” में मूलतः कारिकाएँ हैं जिन पर गद्यात्मक वृत्ति भी है । कारिक तथा वृत्ति का रचयिता एक ही व्यक्ति है या भिन्न भिन्न व्यक्ति ? इसकी मीमांसा दो प्रकार से की गयी है। कतिपय विद्वानों का मत है कि आनंदवर्धन ने वृत्ति और “सहृदय” नामक किसी प्राचीन पंडित ने ध्वनि संबंधी कारिकाएँ लिखी थीं, परन्तु यह मत अब मान्य नहीं है। आनंदवर्धन कारिकाकार तथा

वृत्तिकार स्वयं अपने ही हैं । इस बात के लिए अभिनवगुप्त के “लोचन” में अनेक पुष्ट प्रमाण विद्यमान हैं । इसके उमर “धन्विका” नामक कोई प्राचीन टीका थी जो आज उपलब्ध नहीं है । उपलब्ध टीकाओं में सबसे

सबसे विद्वत्तापूर्ण व्याख्या है ध्वन्यालोक- लोचन अभिनवगुप्त की, जिसे टीका ग्रंथ होने पर भी मौलिक ग्रंथ होने का गौरव प्राप्त है ।

आनंदवर्धन ध्वनिप्रदाय के उद्भावक आचार्य हैं । ध्वन्यालोक में बार उद्योत हैं तथा 128 कौटिकार हैं । प्रथम में ध्वनि के विषय में प्राचीन आलंकारिकों के मतों का विस्तृत समीक्षण है । द्वितीय तथा तृतीय में ध्वनि के भेद उपभेद का वर्णन तथा उसकी स्थापना का प्रामाणिक विवरण है । चतुर्थ उद्योत में ध्वनि की उपयोगिता का विचार है । आनंदवर्धन काश्मीरी थे । हेमचन्द्र के अनुसार ये " नौग " के पुत्र थे । इन्होंने अर्जुनचरित, विष्णुबाल लीला, प्राकृत- काव्य, देवीशतक तथा तत्त्वालोक नामक अन्य ग्रंथों की भी रचना की थी । परन्तु इनमें देवी शतक ही मिलता है ।

18। राजशेखर। 884 से 925 ई ।

राजशेखर संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान कवि अकलाञ्छित के प्रपौत्र थे । इनकी जाति के संबंध में अभी तक निश्चित मत नहीं है । संस्कृत में राजशेखर नाम के कई विद्वान हो चुके हैं । "यदुर्विशतिप्रबंध" के लेखक भी कोई राजशेखर थे । महामहोपाध्याय डॉ० हीरार्घद ओझा ने "काव्यमीमांसा" के लेखक राजशेखर को इन सबसे भिन्न माना है । "काव्यमीमांसा" ग्रंथ किसी संप्रदाय विशेष का ग्रंथ नहीं है । इसमें काव्य के सभी प्रयोजनीय विषयों का नवीन शैली में वर्णन किया गया है । काव्यमीमांसा के अतिरिक्त "कविरहस्य" ; "बालरामायण", "कूर्मरंजरी सदृक" आदि इनके लिखे अन्य ग्रंथ बताये जाते हैं ।

19। धनञ्जय । दसवीं शताब्दी ।

“दशस्यक” के लेखक धनञ्जय का संस्कृत नाट्य क्षेत्र में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इनके पिता का नाम विश्वधु था। धनञ्जय मुन्ज के समकालीन हैं। मुन्ज का समय दसवीं शताब्दी के आस-पास माना जाता है। अतएव इनका भी समय इसी के आस-पास मानना चाहिए।

“दशस्यक” में चार अध्याय हैं।

1।0। अभिनवगुप्त-।दसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध।

काश्मीरी शैवदर्शन के मान्य आचार्य तथा तंत्रशास्त्र के आलोचक लेखक आचार्य अभिनवगुप्त का “तन्त्रालोक” नामक ग्रंथरत्न तन्त्र शास्त्र का विश्वकोष ही है। साहित्यशास्त्र में इनकी प्रतिष्ठा भरत के नाट्यशास्त्र की टीका “अभिनव भारती” तथा ध्वन्यलोक की टीका “लोचन” के कारण है। आचार्य गुप्त के इन पाण्डित्यपूर्ण ग्रंथों की पाकर साहित्यशास्त्र घमक पड़ा और ध्वनि संग्रहाय अपने आलोक से साहित्य संसार को उदभासित करने लगा। रस सिद्धान्त की इनकी व्याख्या पूर्ण मनोवैज्ञानिक, अतरंग तथा आवर्जक है और इसीलिए ये अवान्तर-कालीन आलोचकों के लिए सर्वथा उपजीव्य, मान्य तथा प्रदास्यद आचार्य हैं। इनके पिता का नाम नरसिंह गुप्त था जो लोगों में “सुसुलक” के नाम से काश्मीर में प्रसिद्ध थे। इनकी माता का नाम था - विमला। साहित्य क्षेत्र में “अभिनवभारती” तथा “लोचन” के अतिरिक्त “काट्य कौतुक-वर्णन” नामक इनका एक दूसरा भी अनुमूल्य ग्रंथ है जिसमें इन द्वारा अपने नाट्यशास्त्रीय गुरु भट्टतीत के “काट्य कौतुक” ग्रंथ की व्याख्या की थी।

11.11 कुंतक । 10 वीं शती का उत्तरार्द्ध ।

आचार्य कुंतक ने "वक्रोक्ति जीवित" नामक प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा है । वक्रोक्ति जीवित कारिका तथा वृत्ति से संबंधित ग्रंथ है । इसमें चार उन्मेष हैं । जिनमें वक्रोक्ति के प्रकारों तथा स्वल्प को पूर्णस्वयं वर्णन मिलता है । वक्रोक्ति संप्रदाय के ये मूल प्रवर्तक माने जाते हैं । वक्रोक्ति को इन्होंने "वैदग्ध्य भंगी भाषिति" कहा है । कुंतक ने ध्वनि सिद्धान्त का छाड़न किया है । किंतु उनके इस छाड़न को समादर की दृष्टि से नहीं देखा जाता ।

11.21 महिमभट्ट । 11 वीं शती का मध्य भाग ।

महिमभट्ट कश्मीरी थे । राजानक उपाधि से यह बात प्रकट होती है । उन्होंने "व्यक्तिविवेक" नामक एक प्रौढ़ ग्रंथ लिखा था । स्यक्त ने महिमभट्ट के इस "व्यक्तिविवेक" पर एक पांडित्यपूर्ण टीका लिखी है । इन बातों से पता चलता है कि महिमभट्ट मम्मट से पूर्व तथा स्यक्त के बाद हुए थे । अतः इनका समय 11 वीं शताब्दी माना जाना चाहिए । "व्यक्तिविवेक" नामक ग्रंथ तीन विभागों में विभाजित है । इस ग्रंथ में महिमभट्ट ने ध्वनि का अन्तर्भाव अनुमान में किया है। इन्होंने केवल अभिधा और अनुमान दो ही काव्य शक्तियाँ मानी हैं । लक्षणा और व्यंजना में ये विश्वास नहीं करते । आचार्य मम्मट ने इनके इस मत का छाड़न अपने काव्यकाश के पाँचवें उल्लास में दृढ़ता के साथ किया है ।

11.31 भोजराज । 11 वीं शती का उत्तरार्द्ध ।

महाराजा भोज धारा "नारी के अधीश्वर" थे । ये वाष्पति राजा मुंज के भाई तथा "नव-साहसिकपरित" के नायक सिंधुन के पुत्र थे । इनके ग्रंथ हैं--"सरस्वतीकण्ठाभरण" और "हृंगार प्रकाश"

"सरस्वतीकण्ठाभरण" तो वस्तुतः विद्वज्जनों का कण्ठाभरण ही रहा है, परन्तु "शृंगारप्रकाश" आज भी पूरी तरह प्रकाश में नहीं आया। शृंगार-प्रकाश में रसों का, विशेषतः शृंगार का बहुत ही विस्तृत तथा विशद विवेचन है।

"सरस्वतीकण्ठाभरण" में ध्वनि और दृश्याव्य को छोड़कर काव्य के शेष सभी तत्त्वों का विवेचन किया गया है। इसमें 5 परिच्छेद हैं।

॥५॥ क्षेमेन्द्र ॥ श्री शाली का उत्तरार्द्ध॥

ये औचित्य संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य हैं। ये भी काश्मीर के निवासी थे। क्षेमेन्द्र सिंधु के पौत्र तथा प्रकाशेन्द्र के पुत्र थे। ये अनेक नामक काश्मीर राजा के सभा पंडित थे। आरंभ में ये शीव मतानुयायी थे, परन्तु सोमाचार्य के द्वारा ब्रह्मावस्था में वैष्णवधर्म में दीक्षित किये जाने से वैष्णव बन गये। साहित्यसाधन में ये अभिनवगुप्त के साक्षात् शिष्य थे। क्षेमेन्द्र के कविकण्ठाभरण में 55 कारिकाएँ हैं जो पाँच सन्धियों में विभक्त हैं। "औचित्य विचार चर्चा" इनका दूसरा ग्रंथ है। इसमें काव्य के औचित्य पर विचार किया गया है।

॥५॥ मम्मट

उपयुक्त चार आचार्य श्रीजराज, धर्मजय, महिमभट्ट, कुंतक। ध्वनि विरोधी थे। ध्वनिविरोध का प्रामाणिक छेदन कर मम्मट ने अपने "काव्यप्रकाश" में ध्वनिमार्ग का जो विवरण प्रस्तुत किया वही आदर्श माना जाने लगा और उसी का अनुगमन पिछले आलोचारिकों ने किया। मम्मट का जन्म स्थान काश्मीर ही था। भीमसेन ने इन्हें जयट का पुत्र तथा कयुयट और उच्चर का ज्येष्ठ भ्राता माना है।

काव्यकाश में दस उल्लास हैं । प्रथम उल्लास में काव्ययोजन, हेतु, काव्यलक्षण, काव्यमैद आदि विषयों का प्रतिपादन है । द्वितीय उल्लास में शब्द और अर्थ का विश्लेषण करते हुए " अभिहितान्वयाद" और "अन्विताभिधान्वाद्" का निरूपण किया गया है । फिर वाचक शब्दों के स्वल्प को स्पष्ट करते हुए अभिधा, लक्षणा आदि के भेदों पर प्रकाश डाला गया है । तृतीय उल्लास में अर्थव्यञ्जना का प्रतिपादन किया गया है । चतुर्थ उल्लास में काव्य का निरूपण, ध्वनि स्वल्प और ध्वनि-विभेदों का विवेचन मिलता है । ध्वनि के अन्तर्गत रस, रसाभास, भावाभास आदि विविध पदार्थों की विवेचना की गयी है । पंचमोल्लास में ध्वनि का पूर्ण रूप से दृढ़ता के साथ प्रतिपादन किया गया है । इसी में ध्वनि-विरोधी मतों का खण्डन भी मिलता है । छठे उल्लास में अथम काव्य के स्वल्प की विवेचना की गयी है । सप्तम में दोषों का निर्देश मिलता है । आठवें उल्लास में गुण और अलंकारों का भेद स्पष्ट किया गया है । इसी में आचार्य वामन के दस गुणों का अन्तर्भाव तीन गुणों में किया गया है । नवम उल्लास में शब्दालंकारों का वर्णन मिलता है । दशम उल्लास में अर्थालंकारों का विस्तार से विवेचन किया गया है । मम्मट ने अपने अमूल्य ग्रंथ काव्यकाश में जहाँ अपने मतों का प्रतिपादन किया है वहाँ दूसरे मतों का खण्डन भी किया है । उनकी शैली ष्ठी पांडित्यपूर्ण और प्रभावशालिनी है ।

ध्वनिमार्ग का ज्ञान सुन्दर और तक्ष्म में विवेचन मिलना असंभव है । इस ग्रंथ पर टीका का निर्माण पांडित्य की कतीही माना जाता था । टीका सम्पत्ति में यह ग्रंथ ध्वजोद्भूत है । इसकी 70 टीकाओं में से अनेक स्वतंत्र रीतिग्रंथ के कर्ताओं की भी रचनाएँ हैं । "अलंकार सर्वस्व" के लेखकसंयुक्त "तथा

साहित्यदर्पण के रचनाकार विश्वनाथ कविराज ने इसे व्याख्या ग्रंथों से मंडित किया है ।

116। रुद्रक

ये भी काश्मीर के निवासी थे । तथा काश्मीर के नरेश राजा जयसिंह 1128-1149 ई. के सन्धिविशिष्ट महाकवि मंडक के काव्यगुरु थे । इनके अनेक ग्रंथों का पता चलता है जिसमें *अलंकार-सर्वस्व* महत्वपूर्ण है । यह एक मौलिक रचना है जिसमें अलंकारों के विभाजन का मूल बीज निकाला गया है। रुद्रक ने 75 अर्थालंकारों का तथा 6 शाब्दालंकारों का निरूपण किया है ।

117। हेमचन्द्र । 12 वीं शती का उत्तरार्द्ध।

इनके अन्य नाम घण्टेय और सोमदेव भी बताये जाते हैं । इन्होंने साहित्यशास्त्र पर काव्यानुशासन नामक ग्रंथ का प्रणयन किया है । *काव्यानुशासन* सूत्रों में लिखा गया है । इन सूत्रों पर *अलंकार वृद्धामणि* नामक धृति तथा *विशेक* नामक टीका भी हेमचन्द्र ने लिखी है । इस ग्रंथ में 8 अध्याय हैं । इसमें दूसरे ग्रंथों के सिद्धान्तों का संकलन अधिक किया गया है, मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन कम ।

118। पियूषवर्ध जयदेव--113 वीं शती उत्तरार्द्ध।

जयदेव मिथिला के निवासी थे । साहित्य-शास्त्र के क्षेत्र में उपाधि 'पियूषवर्ध' थी । इनका *चन्द्रलोक* अलंकार शास्त्र का एक अतीत सुंदर तथा लोकप्रिय ग्रंथ है । यह पूरा ग्रंथ 10 मयूखों अध्यायों में विभक्त है। इसकी शैली यही सुंदर है । पद्य के पूर्वादि में तो अलंकार का लक्षण है

और उत्तरार्द्ध में उदाहरण । राजा जयसिंह का " भाषाभूषण " इसी चन्द्रालोक का हिंदी अनुवाद है। यह भी मूल के समान ही रुचिर तथा आवश्यक है ।

119। विश्वनाथ--। 14 वीं शती का पूर्वार्द्ध।

विश्वनाथ कविराज श्री चन्द्रशेखर के पुत्र और श्री नारायण के पोत्र थे । इनके कई ग्रंथों का उल्लेख मिलता है परन्तु इनकी प्रतिष्ठा का तत्सम दीप है-- " साहित्यदर्पण" - जो अत्यंत लोकप्रिय ग्रंथ है तथा आलोचना-शास्त्र के सिद्धान्तों के ज्ञातु पुरुषों के लिए अत्यंत उपयोगी है। इसमें दश परिच्छेद हैं, जिनमें काव्य के तत्त्वों का विस्तृत वर्णन किया गया है । प्रथम परिच्छेद में काव्य-फल, काव्य स्वल्प, दोष गुणादि का विवेचन किया गया है । ये पहले आचार्य हैं जिन्होंने ध्वनिकार और मम्मट छीनों के काव्य स्वल्प का उल्लेख किया है । द्वितीय परिच्छेद में लक्षणा, व्यंजना, तात्पर्या आदि वृत्तियों का विवेचन किया गया है । तृतीय में रस के विविध अंगों का, चतुर्थ में ध्वनि-भेदों का उल्लेख है । अन्य परिच्छेदों में "काव्य-दोष, गुण, रीति और अलंकार विवेचन है ।" "साहित्यदर्पण" " काव्यकाश" की शैली पर लिखा गया ग्रंथ है। परन्तु इसमें काव्यकाश जैसी प्रौढ़ता नहीं मिलती । विश्वनाथ में कवित्व शक्ति अत्यधिक थी इसीलिए सुंदर उदाहरणों से इस ग्रंथ की रोचकता अधिक बढ़ गयी है ।

120। विद्याधर--। 14 वीं शती पूर्वार्द्ध।

विद्याधर का ग्रंथ एकावली काव्यकाश की शैली पर लिखा गया है । इस ग्रंथ में आठ उन्मेषः अध्यायाः हैं । जिनमें काव्य स्वल्प, वृत्ति-विचार, ध्वनिभेद, गुणीभूत व्यंग्य, गुण और दोष, रीति, अर्थालंकार और

शब्दांकार का वर्णन किया गया है । यह काव्यकाश तथा अंकार सर्वस्व पर आधारित है ।

121। अप्ययदीक्षित--। 16 वीं शती का अन्तिम भाग।

अप्ययदीक्षित दक्षिण भारत के प्रसिद्ध शैव दार्शनिक थे । ये ब्रह्मिष्ठ थे । इन्होंने शताधिक ग्रंथ लिखे हैं । इनके तीन ग्रंथ आलोचना विषयक हैं । "सुत्त्वान्तिक" ग्रन्थ में अभिधा व लक्षणा की विवेचना की गयी है । "कुवलयानन्द" अंकार पर एक प्रारंभिक पुस्तिका है। "चित्र मीमांसा" में काव्य के तीन भेद तथा अंकारों का वर्णन है ।

122। पंडित राज ज्ञान्नाथ । 17 वीं शती का प्रथम भाग।

इनका प्रमुख ग्रंथ "रसगंगाधर" है । ये प्रतिभाशाली कवि होने के अतिरिक्त अलीकिक पांडित्य से मंडित विद्वान् थे । ग्रंथ में जो कुछ लिखा है उसे पांडित्य की कसौटी पर कस कर लिखा है। उदाहरण सब इन्हीं की स्वयं निर्मित पद्य हैं । इनकी शैली प्रौढ़ तथा विचार मौलिक हैं । इनका शब्द सशक्त और सरल है। विचार स्वातन्त्र्य की दृष्टि से वे बेजोड़ हैं । इन्होंने अपने पूर्ववर्ती सभी दिग्गज आचार्यों की दृढ़तापूर्वक आलोचना की है।

इस तरह उन्होंने रस तथा अंकार क्षेत्र में नयी सूझ से काम लिया है। ग्रंथ के प्रथम आनन में काव्य के भेद, दस शब्दगुण तथा दस अर्थगुण ध्वनि के भेद तथा रस की विस्तृत मीमांसा है। द्वितीयानन में संस्कृत ध्वनि, शक्ति, लक्षणा तथा 70 अंकारों का विशेष विवेचन है। रस तथा अंकारों का विशेष विवेचन है- जिनमें उनके अनेक मौलिक विचार उपलब्ध होते हैं ।

पंडितराज ज्ञान्नाथ का जीवनकाल दिल्लीसल्तनत बादशाह

कि गहज्जा के निर्माण पर उनके जेठ पुत्र दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाने के लिए ये काशी से दिल्ली आये और दारा कब ही वर्णन इन्होंने अपने काव्य में किया है। ये जात्या ब्राह्मण थे तथा पेट्ट भट्ट के पुत्र थे । अप्यय दीक्षित से इनकी बड़ी अनखन थी । उनके मतों की इन्होंने बड़ी कटु आलोचना की है । अप्यय दीक्षित के " चित्रमीमांसा" के छण्डन के लिए इन्होंने एक नये ग्रंथ की रचना की थी जिसका नाम है-- " चित्रमीमांसा- छण्डन "।

123। विश्वेश्वर पंडित। 18 वीं शती का पूर्वार्ध।

काव्यशास्त्र के अन्तिम और प्रसिद्ध आचार्य विश्वेश्वर प्रखर पंडित थे । इनका " अलंकार कोस्तुभ " नामक अलंकार ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है। यह अलंकार शास्त्र का बड़ा प्रौढ़ ग्रंथ है ।

इन्के छोटे-छोटे सरल ग्रंथ हैं-- अलंकार मुक्तावली, रसयन्त्रिका, अलंकार-प्रदीप तथा कवीन्द्र- कण्ठाभरण जिनमें प्रमुख हैं । संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा के मान्य आचार्यों में विश्वेश्वर पंडित ही अन्तिम आलंकारिक माने जा सकते हैं । इनके बाद से संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा ही समाप्त हो गयी ।

। ब। हिन्दी काव्यशास्त्र =====

। क।- रीतिकालीन काव्यशास्त्र -----

हिन्दी को संस्कृत साहित्य का उत्तराधिकार मिला था किंतु दुःखद बात यह है कि उत्तराधिकार का पूर्ण उपयोग नहीं हो सका। इसके कई कारण थे। आचार्यत्व का भार ऐसे लोगों पर पड़ा जो प्रायः राज्याश्रित थे। हिंदी के रीति-ग्रंथ राजदरबारों के लिए लिखे गये थे। अतः "जैसी देवी तैसी गीत" की बात घरिताई हुई। लोग पंडितों की- सी बाल की छाल निकालने वाले तर्कपूर्ण विवादों में आनंदित नहीं हो सकते थे। प्रायः विलासी लोगों को सौन्दर्य वर्णन ही रुचिकर होता है। इसीलिए हिंदी के रीति ग्रंथों में शृंगार और नायिका भेद का प्राधान्य रहा।

दूसरा कारण यह भी था कि संस्कृत के आचार्य तो टीकाकारों के साथ गद्य में वृत्ति लिखते थे और उन पर टीकाएं भी लिखी जाती थीं। उन टीकाओं में नये-नये सिद्धान्तों का जन्म हुआ। सूक्ष्म अध्ययन एवं विवेचन के लिए गद्य का माध्यम ही उपयुक्त रहता है, उसका रीतिकाल में अभाव रहा। तथापि यह पूर्णतः निर्विवाद है कि हिन्दी काव्यशास्त्र का पूर्ण आधार संस्कृत काव्य शास्त्रीय ग्रंथ है। गिाव सिंह सरौज के अनुसार स० 770 वि० के आसपास पुंड या पुण्य कवि के एक काव्य शास्त्रीय ग्रंथ का उल्लेख किया जाता है। जिसमें हिंदी-भाषा में संस्कृत अलंकारों का अनुवाद है, परंतु दुर्भाग्यवश वह ग्रंथ अप्राप्य है।

इस प्रकार हिंदी काव्यशास्त्र विनोद प्रथम ग्रंथ कृपाराम की दित तरंगिणी ही है। "दिततरंगिणी" की रचना विधि स० 1598 वि. है।

रस-रीति पर उपलब्ध यह सबसे प्राचीन ग्रंथ है। यह ग्रंथ 5 तंत्रों में विभक्त है। इसका मुद्रयाधार भरतमुनि का "नाट्यशास्त्र" है। इस ग्रंथ में केवल नायक-नायिका भेद-विवेचन है। इस ग्रंथ के पश्चात् "गोपा" का रसभूषण मोहनलाल मिश्र का "गुणार-सागर" नंददास की "रस मंजरी" आदि ग्रंथ हिंदी काव्य शास्त्रीय परम्परा में परिगणित होते हैं। पर इन ग्रंथों का सिद्धान्त विवेचन की दृष्टि से विशेष महत्त्व का नहीं स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः काव्यशास्त्रीय चिंतन की पद्धति हिंदी में आचार्य केशव । सं. 1658 वि.। से गुरु होती है। केशव हिंदी साहित्येतिहास में कवि और आचार्य दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण रहे हैं। सही अर्थों में वे हिन्दी काव्यशास्त्र के प्रथमाचार्य हैं। आचार्य केशव से जो काव्यसाहित्यशास्त्रीय चिंतन-प्रवाह गुरु हुआ वह आज तक किसी न किसी रूप में विद्यमान है। केशव से लेकर आधुनिक काल तक प्रवहमान हिंदी काव्य शास्त्र की परंपरा में जो प्रमुख काव्यशास्त्री एवं उनके ग्रंथ आते हैं, उनकी सूची इस प्रकार परिलक्षित होती है--

| काव्यशास्त्री | रचनाकाल | ग्रंथ |
|---------------|----------------------|----------------------------------|
| 1-केशवदास | सं. 1658 वि. | कविप्रिया, रसिकप्रिया |
| 2-चिंतामणि | " 1725 वि. के लगभग | " कवि कुल कल्पतरु " |
| 3-कुलपति | " 1727 वि. | " रस रहस्य " |
| 4-देव | सं. 1760 वि. के लगभग | काव्य रसायन, भाव विलास, रस विलास |
| 5-प्रीति | " 1777 वि. | काव्य सरोज |
| 6-सोमनाथ | " 1794 वि. | रसपीथ निधि |

| | | | | |
|-----|-------------------------------------|------------------|------------|--|
| 7- | भिवारीदास | सं. 1803 | वि. | काव्य निर्णय |
| | | *. 1799 | वि. | रस सारांश |
| | | * 1897 | वि. | शृंगार निर्णय |
| 8- | प्रतापसाहि | * 1886 | वि. | काव्य विलास, कव्यार्थ कीमुदी |
| 9- | अयोध्या सिंह उपाध्याय "हरिऔध" | * 1988 | वि. | रस कला |
| 10- | कन्हैयालाल पोद्दार | * 1991 * 1993 | वि. वि. | रस मंजरी अलंकार मंजरी |
| 11- | रामदहिन मिश्र | * 2001 * 2004 | वि. वि. | काव्यालोक काव्यदर्पण |
| 12- | रामचन्द्र शुक्ल | * 1996 | वि. | चिन्तामणि। भाग- प्रथम। एवं रसमीमांसा |
| 13- | श्यामसुंदर दास | * 1929 | वि. | साहित्यालोचन |
| 14- | बाबू गुलाबराय | * 1944 | वि. | सिद्धान्त और अध्ययन, काव्य के रूप |
| 15- | लक्ष्मी नारायण सुधांगु | * 1965 | वि. | काव्य में अभिव्यक्तावाद, जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, काव्यांग |
| 16- | विश्वनाथ प्रसाद * मिश्र | | | साह, मय विमर्श और काव्यांग कीमुदी |
| 17- | डॉ० नोन्द | | | रस सिद्धान्त |

केशवदास- कविप्रिया, रतिकप्रिया

आचार्य केशव हिंदी काव्य-शास्त्र के प्रथम आचार्य हैं, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है । केशव का मूल उद्देश्य समत्कार पूर्ण कविता करना और कवियों को शिक्षा देना ही था, गंभीर शास्त्रीय रीति से काव्यांगों का विवेचन कर कोई सिद्धान्त छेड़ा करना नहीं¹ । यद्यपि केशव का विषय- प्रतिपादन एवं विवेचन अधिक विस्तृत एवं उलझा हुआ है, उनकी मौलिकताएं तारहीन हैं, तथापि संस्कृत आचार्यों द्वारा विवेचित काव्यशास्त्र के लगभग सभी अंगों पर उन्होंने प्रकाश डाला है । हिन्दी काव्यशास्त्र की प्रारंभिक कृति होने के कारण यह उपादान भी कम महत्व-पूर्ण नहीं ।

केशवदास की काव्यशास्त्रीय प्रमुखतः दो रचनाएं हैं- रतिकप्रिया और कविप्रिया । " रतिकप्रिया " में रसों का वर्णन है किंतु उसमें शृंगार को ही महत्ता दी गयी है। अन्य को तो नामोल्लेख मात्र ही है। इसमें रस- दोषों का भी वर्णन जैसे आचार्य केशव ने " अनरस " की संज्ञा दी है। वे अनरस हैं -- प्रयत्नीक, नीरस, विरस, दुःसंधान और पात्र दुष्ट ।² केशव के रस दोष पर स्टुभट्ट के " शृंगार-तिलक " का प्रभाव है । " रतिक प्रिया " में रस को विभाव और अनुभाव और संवारी भावों द्वारा प्रकाशित स्थायी भाव कहा गया है ।³ उन्होंने भाव के पाँच प्रकार बताए हैं - विभाग,⁴ अनुभाव, स्थायी, तात्त्विक तथा व्यभिचारी । वृत्तियों

1- डॉ० भगीरथ मिश्र- हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० 43

2- रतिकप्रिया, 16/1.

3- वही, 1/2.

4- वही, 6/2

को चार प्रकार का माना है- केशिकी, भारती, आरभली, सात्वती ।

रसिकप्रिया का मुद्रयाधार विश्वनाथ का साहित्य दर्पण और भानुभिन्न की रसमंजरी है ।

* कविप्रिया ग्रंथ में आचार्य केशव ने काव्य दोषों का सविस्तार वर्णन किया है । जिसका आधार दण्डी का * काव्यादर्श है । दोषों की संख्या वे अठारह माने हैं । क्योंकि केशव अलंकारवादी थे इसीलिए उन्होंने कहा है कि--

जदपि सुजाति तुलच्छिनी, सुवरन, तवस सुवृत्त ।

भूषन विन न किराजई कविता, वनिता मित्त ॥²

किंतु उन्होंने कविता के लिए दोषों से रहित होना भी अत्यंत आवश्यक माना है ।³

चिंतामणि

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कविवर भूषण के भाई चिंतामणि की रीतिकाल के प्रवर्तक होने का प्रयत्न दिया है । इनकी दृष्टि में यद्यपि केशव पूर्ववर्ती आचार्य हैं, परन्तु परवर्ती आचार्यों ने उनके मार्ग का अनुकरण न कर, चिंतामणि का अनुकरण किया । आज यह मान्यता नवीन शीघों के आधार पर खंडित हो जाती है । इधर आचार्य चिंतामणि का एक नवीन ग्रंथ *रस-
विलास* उपलब्ध हुआ है-⁴ जिसका आधार केशव की *रसिक प्रिया* है । इस ग्रंथ को लेकर चिंतामणि केशव से बिल्कुल छुड़ जाते हैं ।

1- प्रथम केशिकी भारती आरभली मनि भांति

कहि केशव शुभ सात्विकी, चतुर-वतुर विधिजाति- रसिकप्रिया, 15/1

2- कविप्रिया, संघम्यकास

3- रजत रंग न दोसपुत, कविता, वनिता, मित्र ।

सूंदक हाला होता ज्यों, गंगा तट अविविध ॥ कविप्रिया, तृतीय प्रकाश, 4॥

4- दृष्टव्य- चिंतामणि, कुलपति एवं श्रीपति का तुलनात्मक अनुशीलन- डॉ० रामकुंवर राय ।

आचार्य चिंतामणि की छह रचनाएं मानी जाती हैं। वे हैं -- "काव्यचिन्ता",
कविकुलकल्पतरु", काव्यकाश, भिंगल, रामायण और रस मंजरी। इनमें
से प्रथम पांच का उल्लेख शिवसिंह के आधार पर है। उनका रस विलास
1968 ई० में प्राप्त हुआ है जो गूंगार एवं नायक-नायिका भेद निरूपक
ग्रंथ है।²

चिंतामणि की प्रतिष्ठा "कविकुल कल्पतरु" के कारण ही है।
वे ध्वनिवादी आचार्य हैं। कविकुलकल्पतरु का रचनाकाल सं० 1707
वि० है। इसमें काव्य के दशगोत्रों पर प्रकाश डाला गया है। काव्य
की परिभाषा देते हुए आचार्य चिंतामणि ने कहा है --

सगुण अलंकारन सहित, दोष रहित जो होइ।

शब्द अर्थ धारी कविरत्न, बिबुध कहत सब कोइ।³

अर्थात् दोषरहित, गुण अलंकार सहित शब्दार्थ को विद्वान
काव्य कहते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि चिंतामणि आचार्य मम्मट से
प्रभावित हैं। मम्मट ने भी काव्य के धारे में ठीक यही बात कही है -

तददोषी शब्दार्थी सगुणावनलकृती पुनः क्वापि⁴

कविकुलकल्पतरु के प्रथम प्रकरण में काव्यभेद, काव्यतत्त्व, काव्यस्युक्त
एवं काव्यगुणों की चर्चा की गयी है। दूसरे एवं तीसरे प्रकरण में अलंकारों
का वर्णन तथा चौथे प्रकरण में दोषों को ध्यान दिया गया है। पांचवे
प्रकरण में तीन विभाग हैं जिनमें क्रमशः शब्दार्थ निरूपण, ध्वनि निरूपण
और राधा का गूंगारिक वर्णन है। छठे प्रकरण में भाव एवं तात्पर्य और आर्त

1-दृष्टव्य-मिश्रबन्धुविनोद, भाग-2, पृ० 479 तथा हिंदी साहित्य का इतिहास,
पृ० 292

2-देखिए - चिंतामणि, "कुलपति और श्रीपति का तुलनात्मक अध्ययन",
डॉ० रामकुंदर राय, पृ० 13

3-कविकुल कल्पतरु 1/9

4-काव्यकाश 2/4

में क्रमशः हावों एवं विभिन्न रसों का वर्णन है ।

“ रसविलास ” रस सम्बन्धी काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है । इसमें आठ परिच्छेद हैं जिनमें क्रमशः रस से सम्बद्ध विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन है । ग्रंथ के अंतिम 150 छंदों में आश्रयदाताओं की प्रशस्तियाँ हैं जो शाहजहाँ से अधिक सम्बन्धित हैं । प्रायः आचार्य यितामणि के लक्ष्मीं एवं उदाहरणों पर मम्मट के “ काव्यप्रकाश ”, विश्वनाथ के “ साहित्यदर्पण ” एवं धर्मजय के “ दशाव्ययक ” का प्रभाव है ।

कुल्यति- रसरहस्य

आचार्य कुल्यति मिश्र का मुख्यग्रंथ रसरहस्य है । जिसमें इन्होंने काव्य-शास्त्रीय विषयों का गंभीरतापूर्वक विवेचन किया है । इसका रचना-काल संवत् 1727 है । यह छोड़े बहुत अन्तर के साथ उदाहरणों में इन्होंने अपने आश्रयदाता महाराज रामसिंह की प्रशंसा के छंद रखे हैं । “ काव्यप्रकाश ” का छायांशवाद सा है । इसका विवेचन कुछ गंभीर है और इसीलिए कहीं-कहीं गद्य की वृत्ति भी है । इसमें आठ वृत्तियाँ हैं और लगभग सदाँ छह सौ छंद । प्रथम वृत्ति में कृष्ण रचना, काव्य लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु का वर्णन है ।

द्वितीय वृत्तान्त में शाब्द शक्तियों की चर्चा है । तृतीय में ध्वनि और काव्य कोटियाँ निर्धारित की गयी हैं । चौथी वृत्ति में मध्यम काव्य अर्थात् गुणीभूत व्यंग्य का विवेचन है । पंचम में काव्य के दोषों पर विचार किया है । दोषों को इस प्रकार परिभाषित किया गया है-

शाब्द अर्थ में प्रगट हवे, रस समुह नहिं देह ।
सो दूषण तन मन विद्या, जोजिय को हर लेह ॥
जाहि रहत ही जोर है, जेहि फेरौ फिरि जाय ।
शाब्द अर्थ रस सबन में, सोहं दोष कहाय ॥¹

छठे वृत्तांत में गुणत्रय का विवेचन है।¹ सातवें वृत्तांत में शाब्दालंकार और आठवें वृत्तांत में अर्थालंकार का वर्णन है। इस प्रकरण में लक्षण दोहों में और उदाहरण कविरत्न तथा सवैयाओं में दिये गये हैं।

यह ग्रंथ ज्ञात कि पहले कहा जा चुका है काव्यप्रकाश पर आधारित है। परन्तु विशिष्टता यह है कि रचनाकार ने काव्यप्रकाश के विषयों को पूरी तरह से पचाकर अपनी क्षमतानुसार उसे विवेचित करने का जो प्रयास किया है, वह सराहनीय है।

देव-- शाब्द रसायन, भावविलास, भवानीविलास, रसविलास

आचार्य देव ने प्रायः 52 ग्रंथ लिखे हैं। उनमें रसविलास, भवानी-
विलास, भावविलास, शाब्द रसायन आदि प्रमुख हैं जिनमें प्रायः सभी
काव्यांगों का वर्णन है। * शाब्द रसायन * का स्थान इनमें से सर्वाधिक²
है। डॉ० नेन्द्र ने इस देव की प्रौढ़तम प्रति के स्व में स्वीकार किया है।
ग्यारह प्रकाशों में विभक्त * काव्य रसायन * विवेचन एवं वर्गीकरण दोनों
दृष्टियों से रोचक ग्रंथ है। देव ने काव्य के 5 अंग स्वीकार किये हैं --
रस, भाव, नायिका, छन्द एवं अलंकार। इन अंगों को शाब्दरसायन में³
विस्तार से वर्णित किया गया है। उनके अनुसार काव्य की आत्मा रस है।
देव ने सब रसों में शृंगार को प्रधानता दी है। उन्होंने नव रसों का
संबंध शृंगार के संयोग और वियोग पक्षों से दिखाया है। संयोग का संबंध
हास्य, वीर और अद्भुत से है। वियोग का कल्प, रौद्र और भयानक से

1- तीनि भाँति तोधुरता, ओज प्रसादति जान। रस रहस्य, 6/2

2- देव और उनकी कविता- डॉ० नेन्द्र, पृ० 56

3- काव्यसार शाब्दार्थ को रस तेहि काव्य सुधार।

शाब्द रसायन, तृतीय प्रकाश।

तथा वीभत्स और शांति रस का दोनों से । वैसे भी इन्होंने तीन-तीन रसों की तिकड़ी बनाकर गूंगार को सर्वोपरि ठहराया है ।¹

आचार्य देव ने अलंकारों को प्रभावक धर्म के रूप में स्वीकार किया है । शाब्दालंकारों में मात्र दो अनुप्रास और एक को स्थान दिया है तथा अर्थालंकारों की संख्या 70 स्वीकारी है । इन सभी अर्थालंकारों में उपमा एवं स्वभावोक्ति का विशेष रूप से वर्णन प्रस्तुत किया गया है ।

देव ने भावविलास में केवल 39 अलंकार माने हैं किंतु शाब्दरसायन में 40 मुख्य और 30 गौण कुल गिलाकर 70 माने हैं । देव ने शाब्द-शक्तियों पर भी विचार किया है और अभिधा को मुख्यता दी है । उन्होंने अभिधा की तुलना स्वकीया से की है और व्यंजना की परकीया से ।² देव ने काव्य के गुणात्मक भेद भी प्रस्तुत किये हैं ।

"रस विलास" में विभिन्न प्रकार की स्त्री-जातियों तथा द्रुतियों का वर्णन है । जातिभेद, गुणभेद एवं व्यक्त्यभेद आदि के आधार पर नायिकाओं के अनेक प्रभेद किये गये हैं । यह ग्रंथ सात अध्यायों में विभक्त है । पुस्तक के अष्टादश भाग में हास, भाव, अनुभाव इत्यादि का वर्णन है ।

"भवानी-विलास" भवानीदत्त के लिए लिखी हुई रस निरूपण से सम्बद्ध कृति है । आचार्य देव के अनुसार यह कहना कि रस नी हैं असत्य है । यथार्थ में गूंगार ही मूल रस है।³

1- तीनि मुख्य न्व हीर सनि, है-है प्रथमनि तीन ।

प्रथम मुख्य तिनहुन में, दोउ तेहि आधीन ॥

हास, भाव, सिंगार रस, रुद्र, करुण रस वीर ।

अदभुत और वीभत्स संग, साती वरनत धीर ॥-शाब्द रसायन, भाग-3, पृ0

2- अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणाहीन ।

अधम व्यंजना रस कुटिल, उलटी कहत न्यायिनी-शाब्द रसायन, जूठ प्रकाश,

3- भूलि कहत न्व रस सुकवि । सकल मूल सिंगार

भवानी विलास-- प्रथम विलास0

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी के आचार्यों में आचार्य केशव के पश्चात् आचार्य देव ने संस्कृत काव्यशास्त्र का भरपूर आधार ग्रहण करते हुए भी मौलिकता दिखाने के साथ-साथ गंभीर विवेचन का प्रयास किया है।

श्रीपति-- काव्यसरोज

श्रीपति का रचनाकाल सं० 1777 वि. है। आचार्य श्रीपति की गणना काव्यशास्त्र के प्रमुखाचार्यों में होती है। उन्होंने कई ग्रंथों का निर्माण किया, परन्तु उनमें काव्यसरोज ही प्राप्त हो सका है। यह प्रौढ़तम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है। इसमें कुल चौदह दल और लगभग साढ़े छह सौ छंद हैं। चौदहवां दल लगभग अपूर्ण सा है। ग्रंथ के प्रथम दल में मंगलाचरण तत्पश्चात् काव्य-स्वत्व, काव्य हेतु एवं काव्य-भेद पर विचार किया गया है। द्वितीय दल में शब्द निरूपण है जिसमें शब्द के तीन भेदों- रुद्रि, योग और योगरुद्रि का वर्णन है। तृतीय दल में अर्थ का विवरण प्रस्तुत है। पाठ्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ के बाद लक्षणा के छह भेदों का वर्णन किया गया है और इसी प्रकार व्यंजना का। यह वर्णन मुख्यतः काव्य प्रकाश के आधार पर है। चतुर्थ दल से लेकर सातवें दल तक मात्र दोषों का सविस्तार वर्णन प्रस्तुत किया गया है। दोषों के क्षेत्र में आचार्य श्रीपति ने अनेक नवीन दोषों की परिकल्पना की है जो हिंदी भाषा की प्रवृत्ति के अनुकूल है।¹

आठवें और नवें अध्यायदलों में काव्य-गुणों का वर्णन है। दसवें दल में शब्दालंकारों, ग्यारहवें में अर्थालंकारों तथा बारहवें दल में उपमाालंकारों का वर्णन है। तेरहवें और चौदहवें दल में रस का महत्त्व वर्णित

1- द्रष्टव्य - धितामणि, कुल्यति एवं श्रीपति का तुलनात्मक अनुशीलन,

है । आचार्य श्रीपति काव्यशास्त्र के प्रथम कोटि के आचार्यों में से हैं इनके द्वारा प्रणीत ग्रंथ 'काव्यसरोज' का सुव्यापार आचार्य मम्मट का काव्यकाश है ।

सोमनाथ-- रस पीयूष निधि

आचार्य सोमनाथ ने अपने आज्ञादाता राजा प्रतापसिंह के लिए इस ग्रंथ का प्रणयन किया था । इसकी रचना सं० 1794 वि. में हुई ज्ञात कि ग्रंथ में इस प्रकार उल्लिखित है --

* सत्रह सौ योरान्धै, संवत जेठ सु मास ।
कृष्णा पक्ष दसमी सुगी, भयी ग्रंथ परकास ॥

यह ग्रंथ 22 तरंगों में विभक्त है तथा इसमें कुल 1127 छंद हैं । कहीं-कहीं गद्य का भी सहारा लिया गया है । पहली तरंग में देवताओं की वंदना है । दूसरी से पाँचवी तरंग तक कविपरिचय और छंदशास्त्र पर प्रकाश डाला गया है । छठी तरंग में काव्य लक्षण, प्रयोजन एवं काव्य भेद की वर्णना है । इसी तरंग में शाब्दशक्ति का भी निरूपण है। सातवीं से अठारहवीं तरंगों में रस, नायिकाभेद, शब्दों के प्रकार तथा छवनि का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इन तरंगों में कुल मिलाकर 427 छंद हैं । उन्नीसवीं तरंग में 19 पद्य हैं जिसमें गुणीभूत व्यंग्य की वर्णना है। बीसवीं तरंग में दोषों का वर्णन है और इक्कीसवीं तरंग में गुण और शाब्दालंकार का । अंतिम तरंग के 303 छंदों में अर्थालंकार का विस्तृत निरूपण है। इस तरह 22 तरंगों में यह वृहत् काव्यशास्त्रीय ग्रंथ पूर्णता के साथ समाप्त हुआ है । यह ग्रंथ काव्यशास्त्र के सर्वोत्कृष्ट ग्रंथों में से एक है।

भिखारीदास-- रसतारांगि, काव्यनिर्णय, शृंगार-निर्णय

आचार्य भिखारीदास ने "रसतारांगि" की रचना सं० 1791 वि. में की थी। इसके निर्माण का मूल उद्देश्य रस विषयक सामग्री के ज्ञात पाठकों को इसका परिचय देना है।¹ रस तारांगि के प्रथम दोहे में मंगलाचरण का निर्देश है। इस ग्रंथ में रसों का विवेचन बड़ा ही रोचक और विस्तारपूर्वक है। 281 से 477 तक के छंदों में शृंगार रस का वर्णन है। इसके उपरान्त 30 छंदों में हास्य आदि शीघ्र जाठ रसों की संक्षिप्त चर्चा की गयी है। इसके 63 छंदों में संचारी भावों तथा 14 छंदों में भाव, रसाभासादि का निरूपण है।

भिखारीदास का "काव्यनिर्णय" रीतिशास्त्र का सर्वांगमूर्ण ग्रंथ है। इसका रचनाकाल संवत् 1903 है।² यह ग्रंथ पच्चीस उल्लासों में विभक्त है। इसमें आधे हुए कुल छंदों की संख्या 1210 है। प्रथमोल्लास में काव्य-प्रयोजन, काव्य-कारण और काव्य के विभिन्न अंगों का उल्लेख है। काव्यांग का वर्णन करते हुए आचार्य दास ने बतलाया कि रस ही कविता का अंग है। अलंकार आभूषण है। गुण, रूप, रंग और दीप्ति कुस्यता के समान है।³

1- सत्रह से इक्यान्नी, नभ गुदि छटि कुंवार ।

अखर देय प्रतापगढ़, भयी ग्रंथ अवतार ॥

2- अदठारह से तीनि को सम्बत आस्विन मास ।

ग्रंथ काव्य निरूप्य रच्यो, विजय दसमि दिन दास ॥

-भिखारीदास कृत काव्यनिर्णय के मंगलाचरण से उद्धृत ॥५॥

3- रस कविता को अंग, भूषन है भूषन सकल ।

गुन सस्य औरंग, दूषन करे कुस्यता ॥ ... वही. १/13

बाद के चार वषों में आचार्य भिखारीदास ने भाषा के अर और अपने विचार प्रकट किये हैं और उल्लास के अन्तिम पद्य में काव्यांग ज्ञान का महत्त्व निर्दिष्ट है ।

दूसरे उल्लास में शब्दशास्त्र का निरूपण किया गया है । तीसरे उल्लास का नाम " अलंकार मूल वर्णन " है । अलंकार मूल से तात्पर्य आचार्य दास का उन अलंकारों से है जिन पर अन्य अलंकार आश्रित हैं । वीथि उल्लास में रसों का वर्णन है । पाँचवें में अमरांग अर्थात् रसवत् आदि अलंकारों का वर्णन है । छठे में ध्वनि और तात्त्विक उल्लास में क्रमशः ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का निरूपण है। उनके उदाहरण और अंग बहुत कुछ मम्मट के आधार पर ही हैं । ध्वनि के बारे में उन्होंने कहा है कि जहाँ पर वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में अधिक सम्यक्ता रहे उसी को ध्वनि कहते हैं और वही उत्तम काव्य है ।¹

गुणों के सम्बन्ध में दास जी ने मम्मट का अनुकरण किया है । उन्होंने गुणों का वर्णन कर उन्हें तीन भागों, माधुर्य, ओज, प्रसाद के अन्तर्गत रखा है--

माधुर्योऽपि प्रसाद के सङ्गुन है आधीन ।

2

तात्ते इनहीं को गन्या, मम्मट सुकवि प्रवीणी ॥

हिंदी काव्यशास्त्रीय परंपरा में " काव्य-निर्णय " सर्वाधिक पूर्ण एवं

वैज्ञानिक कृति है। यद्यपि इसका आधार काव्यप्रकाश तथा हिंदी के अन्य

ग्रंथ हैं, पर कई स्थानों पर दास जी की मौलिक प्रतिभा के दर्शन होते हैं।

1-वाच्यार्थ से व्यंग्य में, सम्यक्ता अधिकार ।

ध्वनि तात्त्विक को कहते हैं, उत्तम काव्य विचार ॥

--काव्यनिर्णय-6/1

2-वही, गुणनिर्णय वर्णन, 30.

शृंगार - निर्णय काव्य-शास्त्र के ऊपर दूसरा ग्रंथ है- इसमें शृंगार रस का अर्थात् नायक- नायिका भेद, संयोग- वियोग, इत्यादि विषयों का वर्णन है । इस ग्रंथ में कुल ३२८ पद्य हैं । इस ग्रंथ के निर्माण का मुख्य उद्देश्य केवल शृंगार रस को ही विस्तृत विषय सामग्री के रूप में प्रस्तुत करना मात्र है । कुल मिलाकर आचार्य भिखारीदास की रीतिकालीन आचार्यों में पर्याप्त ख्याति मिली है ।

प्रताप साहि-- काव्य विलास, व्यंग्यार्थ कौमुदी

प्रतापसाहि का सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ " काव्यविलास " है । इसका प्रणयन सम्यक् १८८६ में हुआ । इसमें कुल छह प्रकाश और ५११ छंद हैं । विषय को सुबोध बनाने के लिए वृत्ति के रूप में गद्य का भी प्रयोग किया गया है। ग्रंथ के प्रथम प्रकाश में श्रीगणेशा वंदना है। इसके उपरान्त काव्य लक्षण, काव्य प्रयोजन, काव्यभेद आदि पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है । इस प्रकाश में कुल छंदों की संख्या २८ है ।

ग्रंथ के दूसरे प्रकाश में शब्द शक्ति और तीसरे तथा चौथे प्रकाशों में क्रमशः ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का निरूपण है। रसादि को ध्वनि के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया गया है । पाँचवें और छठे प्रकाशों में गुण एवं दोषों का वर्णन है । यह ध्वनि सिद्धान्त का निरूपण करने वाला अत्यंत प्रौढ़ ग्रंथ है। आधार इसका भी काव्यप्रकाश है। यह इतना महत्वपूर्ण है कि कुछ लोग तो इसे हिंदी का काव्यप्रकाश मानते हैं ।

“व्यंग्यार्थ कौमुदी” प्रतापसाहि का एक अन्य ग्रंथ है जिसकी रचना सं० 1882 में हुई । इस ग्रंथ के दो भाग हैं-- मूलभाग और वृत्ति भाग । मूलभाग में कुल छंदों की संख्या 130 है। व्यंग्यार्थ कौमुदी में तीन वर्गों एक साथ चलते हैं -- नायिका भेद, व्यंग्यार्थ और अलंकार । वास्तविक ग्रंथ का आरंभ 15 वें छंद से होता है। भानुमति के नायक-नायिका भेद के क्रम को लक्ष्य में रखकर 111 उदाहरणों का निर्माण किया है। तत्पश्चात् उनका विवेचन गद्य में वर्णित है । इस प्रकार वृत्तिभाग से समन्वित यह एक लक्षण ग्रंथ है।

निष्कर्षतः इन दो सौ वर्षों के बीच हिंदी काव्यशास्त्र का पर्याप्त विकास हुआ । गुण की दृष्टि से इस युग में उपस्थित किये गये लक्षण ग्रंथ भले ही अधिक प्रशंसनीय न हों, पर परिमाण एवं हिंदी में काव्यशास्त्रीय चिंतन को प्रारंभ करने की दृष्टि से इनका महत्त्व अविस्मरणीय है । उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त अनेक सर्वांगि निरूपक रत्न निरूपक एवं अलंकार निरूपक अन्य आचार्य भी हुए हैं जिन्होंने इस परंपरा को और भी आगे बढ़ाया । बड़े हुए सर्वांगि निरूपक आचार्यों में पद्मन दास, कुमार मणि शेट्ट, सुरति मिश्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। रत्न निरूपक आचार्यों में मतिराम, तोष, रसलीन पद्माकर और धेनी प्रवीन प्रमुख हैं । अलंकार निरूपक आचार्यों में ज्ञानंत सिंह, मतिराम, भूषण, दूबह और पद्माकर उल्लेखनीय हैं । डॉ० रामकुंवर राय ने भारतीय साहित्य के विकास में ऐतिहासिक आचार्यों के योगदान को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है --

• चिंतामणि आदि ऐतिहासिक आचार्यों का भारतीय साहित्यशास्त्र के विकास में एकमात्र योगदान है- हिंदी भाषा में संस्कृत

काव्यशास्त्रीय परंपरा की सरस स्र में अवतारणा । उनका महत्त्व इसी तटय में निहित है कि उन्होंने रीतिकालीन हिंदी काव्यशास्त्र को प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र से जोड़ दिया है। भारतीय भाषाओं में केवल हिंदी और मराठी ही ऐसी तोभाग्यवती भाषाएँ हैं जिनका संबंध सूत्र संस्कृत आनीयना से टूट नहीं सका है ।

1- द्रष्टव्य-- चिंतामणि, कुलपति और श्रीपति का तुलनात्मक अध्ययन,

कालीन
13। आधुनिक काव्यशास्त्र
=====

शुक्लीन हिंदी काव्यशास्त्रीय परम्परा की शुरुआत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कृति से होती है। वहीं से हिंदी शुक्लीन काव्यशास्त्र की द्विविध परम्परा प्रभावित हुई। पहली परम्परा रुद्रिन्द परम्परा की प्रश्रय दे रही थी तथा दूसरी परम्परा में मौलिक विचारों की अधिकता थी। इस काल में प्रेमचन्द के "दीपकांग", काशिराज की "चित्तर्वहिका", गिरिधरदास का "भारतीभूषण", मेहराज के "गंगा भरण", जगन्नाथ भानु के काव्यप्रभाकर, लाला अमृतानु दीन की "अलंकार मंजूषा" एवं तेज कन्दैया लाल पोद्दार के "काव्य कल्पद्रुम" का प्रादुर्भाव हुआ। इन सम्पूर्ण कृतियों में केवल दो तीन रचनाओं को छोड़कर शेष किसी में भी मौलिक विचारों की सहज करने की क्षमता नहीं है। ऐतिहासिक के समाप्त होते-होते हमारे देश, समाज और साहित्य में जीवन के संघर्ष तथा देशप्रेम के विन्दु स्पष्टतः परिलक्षित होने लगे थे।

यद्यपि आधुनिक काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के विषय लगभग वही हैं जो ऐतिहासिक ग्रंथों में स्थान पा चुके हैं और मान्यताएं तथा धारणाएं भी वहीं हैं तथापि यत्र-तत्र कतिपय नवीन उद्भावनाएं देखी जा सकती हैं। आधुनिक साहित्यशास्त्रीय चिंतन नवीन बातों एवं विचारों से निश्चित ही कुछ न कुछ प्रभावित हुआ है। आधुनिक युग में जिन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की रचना हुई है, वे इस प्रकार हैं --

अधोऽप्यालिखित उपाध्याय हरिऔध-- रस कलस

* "रस कलस" रस विषयक ग्रंथ है जिसकी रचना सं० 1938 वि. में हुई। इस ग्रंथ में परिभाषा अथवा लक्षण हिंदी में हैं और उदाहरण प्रकाश

पद्य में । इसमें शृंगार रस का विस्तृत विवेचन है। यद्यपि रस कला में लेखक का अपना कोई नवीन सिद्धान्त नहीं पर उसके संस्कृत के अनेक सिद्धान्तों का सहारा लेते हुए भी वष्य विषय की तार्किकता एवं दार्शनिकता को कवि सुलभ एवं सरस बनाने का प्रयास किया है । आधुनिक काल में साहित्यिक रस की मीमांसा उन्हीं से प्रारंभ हुई। रस की उत्पत्ति के विषय में हरिऔध जी भरतसूत्र की काव्यप्रकाशकार वाली व्याख्या मानते हैं । हरिऔध जी ने इस धारणा को उदाहरणों द्वारा पुष्ट किया है । शृंगार रस की विस्तृत व्याख्या हरिऔध जी ने भूमिका में दी है नायिका १, २ भेद के संदर्भ में इनके विचार इस प्रकार हैं --

• नायिका भेद के मूल में जो सत्य है, वास्तविक बात यह है कि वह सार्वभौम एवं सर्वकालिक है । उसके भीतर स्वाभाविक मानवी भाव सदा मौजूद रहते हैं जो व्यापक और सर्वव्यापी है । इसीलिए उनकी अभिव्यक्ति विश्वभर में अज्ञातस्व से व्याकाल और व्यावसर होती रहती है भरा विचार है कि नाट्यशास्त्रकार ने उसकी वैज्ञानिक रीति से विधिबद्ध करके साहित्य की शोभा ही नहीं बढ़ायी है, लोकहित साधन का भी आयोजन किया है।²

भूमिका भाग में संस्कृत के अनेक ग्रंथों का सहारा लिया गया है जिनमें मुख्य रूप से काव्य प्रकाश, साहित्य दर्पण, रसगंगाधर, अग्निपुराण और श्रीन्द्रभागवत आदि हैं । नवीनता और प्राचीनता दोनों ही दृष्टियों से "रसकलस" हरिऔध जी की रीचक, उपयोगी और अन्यतम कृति है । इसके रस निखण में पूर्णता है। शृंगार का पूर्ण वर्णन है ।

1- रसकलस की भूमिका, पृ० ८

2- रसकलस की भूमिका, पृ० 125

कन्हैयालाल पोद्दार-- रसमंजरी, अलंकार मंजरी

पोद्दार का "अलंकार प्रकाश" ग्रंथ सं० 1957 वि. में प्रकाशित हुआ था। अब यह ग्रंथ "काव्य कल्पद्रुम" के द्वितीय भाग, अलंकार मंजरी के रूप में परिवर्तन प्राप्त कर चुका है। रसमंजरी और "अलंकारमंजरी" काव्य कल्पद्रुम के प्रथम और द्वितीय भाग हैं--"काव्यकल्पद्रुम" का प्रकाशन सं० 1983 में हुआ था और उसके बाद दो मंजरियाँ। रस मंजरी और अलंकार मंजरी। में सं० 1991 और सं० 1993 में सामने आया।

"रस मंजरी" में काव्य के सामान्य अंगों द्वा. नि. रस, गुण, दोष आदि का तथा अलंकार मंजरी में अलंकार के इतिहास का विवेचन है। रस मंजरी की भूमिका अपना अलग ही महत्त्व रखती है। कन्हैयालाल जी के मतानुसार "साहित्यशास्त्र उसे कहते हैं जिसके द्वारा काव्यनिर्माण और रसानुभव का एवं उसके तत्त्व, दोष, गुण आदि का ज्ञान प्राप्त होता है।"

रस मंजरी का सम्पूर्ण विवेचन मम्मट के काव्यप्रकाश पर ही आधारित है। इसमें कुल गिलाकर दस स्तवक हैं। "रस मंजरी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके लक्षण गद्य में दिये गये हैं तथा उनकी स्पष्ट वार्तिक या व्याख्याएँ भी हैं।

जिस तरह दण्डी एवं भास्कर अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति को अलंकार का पर्याय स्वीकारते हैं ठीक उसी तरह अलंकार मंजरी में पोद्दार जी ने वक्रोक्ति को अलंकार का प्राण माना है।² इसमें 6 शब्दांलंकार, 100

1- टिप्पणी, रसमंजरी, पृ० 21

2- दृष्टव्य- अलंकारमंजरी, समक अलंकार, पृ० 25, स्मरण अलंकार, पृ० 115

अर्थात् अलंकार चार संवृष्टि और संकर अलंकारों का वर्णन है । अलंकारों के वर्णन वाले प्रसंग में अन्य आचार्यों की उदाहरणों की भी विवेचना की गयी है । अलंकार मंजरी अलंकारों का एक प्रमाणिक ग्रंथ है और आचार्यत्व की पदवी प्रदान करने वाला है। अंत में अलंकारों के दोषों का वर्णन किया गया है।

रामदहिन मिश्र-- काव्यलोक तथा काव्यदर्पण

रामदहिन मिश्र द्वारा प्रणीत " काव्यलोक और काव्यदर्पण में भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है । यह विचार-पूर्ण ग्रंथ है । कतिपय विषय इस प्रकार के हैं जिन पर मिश्र जी ने अपने तीक्ष्ण बौद्धिक विचार प्रस्तुत किये हैं यथा-- काव्यशास्त्र के लेखन-अध्ययन की आवश्यकता है या नहीं ? रससिद्धान्त मान्य है अथवा अमान्य ? प्राचीन काव्यशास्त्रीय-सिद्धान्त क्या सर्वथा निस्तार हो गये हैं ? इसके साथ ही कवि, काव्यकला, काव्य और कविता, पाठ्य, काव्य की भाषा इत्यादि विषयों पर भी उन्होंने मीमांसा प्रस्तुत की है ।

काव्यदर्पण के लेखन के समय उनकी दृष्टि मुख्यतः काव्यप्रकाश एवं साहित्य दर्पण पर केन्द्रित रही और इन्हीं शब्दों के क्रमशः पूर्वमान तथा उत्तरमान के मिश्रण से " काव्य " । प्रकाशः । साहित्यः " दर्पण -- " काव्यदर्पण " ग्रंथ का नामकरण किया गया है । इसमें कुल बारह प्रकाश हैं । इसके अन्तर्गत काव्य, रस, अर्थ, ध्वनि, काव्यभेद, दोष-गुण, रीति, अलंकार आदि की क्रमिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

संस्कृत और हिंदी के विभिन्न आचार्यों के मतों की रामदहिन जी ने निर्भीकता के साथ आलोचना की है ।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की समीक्षा पद्धति से हिंदी साहित्य में एक नया मोड़ आया है । काव्यशास्त्र की लगभग सभी समस्याओं पर उन्होंने कुछ प्रकाश डाला है। विंतामणि । भाग- प्रथम । एवं "रस-मीमांसा" इनके काव्यशास्त्रीय ग्रंथ हैं । आचार्य शुक्ल ने कविता को जीवन और जगत् की अभिव्यक्ति माना है । जगत् उनके विचार से अत्यंत की अभिव्यक्ति है । कविता क्या है ? शीर्षक निबंध में उन्होंने लिखा है--
ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता की के नये-नये आवरण बढ़ते जायेंगे, त्यों- त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायेगी, दूसरी ओर कवि कर्म कठिन होता जायेगा ।²

रस प्रतिष्ठापक आचार्य के त्व में आचार्य शुक्ल की गणना की जाती है । उन्होंने काव्यशास्त्र के अधिकांश विषयों में शब्दशक्ति, रस और अलंकार को प्रधान माना है। उनके मतानुसार शब्दशक्ति, रस और अलंकार काव्य समीक्षा के लिए इतने उपयोगी तत्त्व हैं कि उनको अन्तर्भूत करके संसार की नयी पुरानी सब प्रकार की कविताओं की बहुत ही सूक्ष्म, मार्मिक और त्वच्छ आलोचना की जा सकती है । आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने शब्दशक्तियों के क्षेत्र में दो प्रकार से अपने विचार प्रकट किये हैं-- एक तो

1- काव्य में रहस्यवाद, पृ० 99

2- विंतामणि, भाग-1, पृ० 197

अभिधा के महत्त्व प्रतिस्थापन में, दूसरे व्यंजना के विषय में । आचार्य शुक्ल काव्य में सभी शब्द-शक्तियों की महत्ता को स्वीकारते हुए भी उनके मूल में अभिधा शब्दशक्ति की सत्ता मानते हैं । उनके विचार से लक्षणा और व्यंजना शक्तियों द्वारा लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्राप्ति अभिधा के पथ पर चल कर ही होती है। बिना अभिधायार्थ समझे लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ समझ में आ नहीं सकता । इन्हीं सब कारणाँ से इस प्रक्रिया को व्यंजनात्मक मानते हुए शुक्ल जी काव्यत्व की रमणीयता वाच्यार्थ में ही मानते हैं । व्यंजना शक्ति के संदर्भ में आचार्य शुक्ल प्राचीन आचार्यों से कुछ मतभेद रखते हैं । अभिधामूला व्यंजना की संक्षेपक्रम व्यंग्य और असंक्षेपक्रम व्यंग्य दो भेद पूर्व मान्य हैं । उनके अनुसार इन दोनों में केवल इतना ही भेद स्वीकार किया गया है कि एक में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ पर आने का पूर्वापर क्रम श्रोता या पाठक को लक्षित होता है, दूसरी में यह क्रम होने पर भी लक्षित नहीं होता।

छंदों के सम्बन्ध में उनका स्पष्ट मत है कि--" छंद के ध्यान के सर्वथा त्याग में हमें तो अनुश्रुत नाद-सौन्दर्य की प्रेक्षणीयता। कम्प्यूनिकेविलिटी ऑफ साउण्ड हार्वल्स का प्रत्यक्ष हास दियायी पड़ता है। हाँ नये- नये छंदों के विधान को हम अवश्य अच्छा समझते हैं ।¹ " कला कला के लिए है" यह सिद्धान्त शुक्ल जी को मान्य नहीं । कला एक बहुत बड़ा साधन है, शुक्ल जी इसे साध्य कभी नहीं मानते । उनका विचार है कि यदि "कला" का सही अर्थ लेना है जो कामशास्त्र की चौतर्ह कलाओं में है अर्थात् मनोरंजन या उपभोग मात्र वह विधाक- तो काव्य के सम्बन्ध में दूर से ही इस शब्द को नमस्कार करना चाहिए ।² आचार्य शुक्ल कला को सजावट के अर्थ में नहीं देखना

1- काव्य में रहस्यवाद, पृ० 135

2- रीतामणि भाग-1, पृ० 193

वाहते हैं। वे अलंकार को साधन मानने के पक्ष में हैं, साध्य नहीं।
 उनके विचार से वस्तु या व्यापार के तीव्र करने, स्व-वर्णों का उत्कृष्ट
 दिखाने के लिए प्रस्तुत कथन के ढंगों को अलंकार कहते हैं। आचार्य शुक्ल
 की दृष्टि में अलंकारों को साध्य मान लेने से कविता इतनी विकृत हो जाती
 है कि वह कविता नहीं रह जाती। भाव या वस्तु की रमणीयता के²
 अभाव में अलंकारों का जमघट काव्य का अस्तित्व नहीं छोड़ कर सकता।
 काव्य का अस्तित्व अलंकार के बिना संभव हो सकता है पर भाव या अनुभूति
 के बिना नहीं। इस प्रकार शुक्ल जी के विचार में काव्य का महत्वपूर्ण
 अंग अलंकार या उक्ति वैचित्र्य नहीं, बल्कि मार्मिक भाव या अनुभूति है।
 अलंकारों की व्याप्ति के समय यह बात ध्यातव्य है कि शुक्ल जी ने अलंकारों
 का संबंध कल्पना से जोड़ करके अपने अग्रस्तुत स्व-विधान-विवेचन के प्रसंग में
 कल्पना का विवेचन अलंकारों की स्पष्टता के लिए किया है। इससे पूर्व
 भारतीय समीक्षान्तर्गत अलंकारों की स्पष्टता के लिए कल्पना का विवेचन नहीं
 के बराबर किया गया था। उनके मत में अलंकार का काम वस्तुनिर्देश नहीं।
 समीक्षा सिद्धान्तों में शुक्ल जी का आदर्श रस सिद्धान्त में दिखाई पड़ता है।
 उनके द्वारा निरूपित रस का स्वल्प लक्षणः ग्रंथों की रस-निरूपण की सीमित
 परम्परा से आच्छादित नहीं है। रस के आदर्श को अपनाने का प्रयास रस मीमांसा
 चिंतामणि के मनोविकार सम्बन्धी तथा अन्य साहित्यिक निबन्धों में पूर्ण रूपेण
 परिलक्षित होता है। उन्होंने रसात्मक प्रतीति की दो कोटियाँ की हैं -

1- चिंतामणि, भाग- प्रथम, पृ० 247

2- वही, पृ० 232

।क। जिस भाव की व्यंजना हो, उसी भाव में लीन हो जाना ।

।ख। जिस भाव की व्यंजना हो उसी में लीन तो न होना, पर उसकी व्यंजना की स्वाभिक्ता और उत्कण्ठ का हृदय से अनुमोदन करना ।

इसमें प्रथम प्रकार के भाव की अश्रियक्ति उत्तम अश्रियक्ति है और दूसरे प्रकार की मध्यम । यही पर आचार्य गुरुल स्थायी भावों का महत्त्व भी प्रतिपादित करते हैं ।

रसानुभूति या रस की प्रतीति का और अधिक विस्तार से विश्लेषण "साधारणीकरण" के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है । "साधारणीकरण" की प्रक्रिया रसानुभूति को व्यक्त करती है । जब आश्रय का आलम्बन केवल उसी का आलम्बन हो जाता है और वह भी उसके प्रति उन्हीं भावों का अनुभव करता है जो आश्रय करता है तब उसे साधारणीकरण की दशा कहते हैं । गुरुल के अनुसार साधारणीकरण केवल आलम्बनत्व धर्म को होता है । गुरुल जी भावों के अन्तर्गत विभाव पक्ष को अधिक महत्त्व देते हैं । " काव्य में प्राकृतिक हृदय नामक निबंध में इसी भाव को इस तरह व्यक्त किया गया है--" में आलम्बन मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव। भावानुभव तभी। उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ ।²

संक्षेप में गुरुल जी का रसादर्श उपनिषदों का " रसो वैशः " ही था, किंतु उपनिषदों में वह आध्यात्मिक सत्ता के लिए प्रयुक्त हुआ था। गुरुल जी ने उसे लोक व्यापी त्रिकावर्तिनी अश्रि भाव सत्ता के लिए प्रयुक्त

1- काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ 59

2- वही, पृष्ठ 82

किया । आचार्य शुक्ल के रसादर्श का लक्ष्य था— रस पद्धति का पुनर्निर्माण करके उसे सार्वभौम समीक्षा पद्धति के पद पर आसीन करना । इसके लिए रस की परिभाषा उन्होंने विश्वात्मक भूमि पर की । उसके प्रत्येक तत्त्व का विश्लेषण मनोविज्ञान की सहायता से विश्व व्यापी जीवन की भूमिका पर प्रस्तुत किया । शुक्ल जी ने अपने रस दर्शन द्वारा समीक्षा के विभिन्न सिद्धान्तों का विश्लेषण करके साहित्य मीमांसा को जीवन- मीमांसा के साथ प्रस्तुत किया । इस प्रकार स्पष्ट है कि रस विवेचन के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल की प्रतिभा अद्वितीय है ।

“ काव्य में रहस्यवाद ” आचार्य शुक्ल का एक स्वतंत्र ग्रंथ है जिसमें रहस्यवाद के अतिरिक्त छायावाद, कलावाद, रस, छंद, अलंकार आदि का विवेचन भी है । रहस्यवाद का सम्बन्ध एक प्रकार के भाव, मनोवृत्ति या दृष्टिकोण से है और सभी काव्यों पर इसका प्रभाव नहीं है । अतः काव्य सिद्धान्त के रूप में रहस्यवाद का अपना कोई मौलिक महत्त्व नहीं । अभिव्यञ्जनावाद के ऊपर शुक्ल जी के विचार बड़े ही सारगर्भित एवं महत्त्वपूर्ण हैं । शुक्ल जी कहते हैं कि अभिव्यञ्जनावाद धीरे-धीरे शाब्दाडम्बर की ओर हमें ले जाता है । आपका कथन यह है कि “ अभिव्यञ्जनावाद किस प्रकार व्यञ्जनाली की वक्रता और विक्षिण्णता पर ही जोर देता है, यह हम देख चुके हैं । यह हमारे यहाँ का पुराना वक्रोक्तिवाद ही है, यह भी हम निरूपित कर आये । उसके कारण शाब्दाडम्बर की कितनी अधिकता हुई है यह बात भी हम देख रहे हैं । ”

सामान्यतया यह माना जाता है कि रामचन्द्र गुप्त आह. ए. रिचर्ड्स के आलोचना सिद्धांत से प्रभावित हुए हैं, पर यह धारणा नितांत प्रमूलक है। इन सीमाओं के होते हुए भी गुप्त जी का हिंदी आलोचना के क्षेत्र में अन्यतम स्थान है। उनके प्रखर व्यक्तित्व का प्रभाव जहाँ कहीं भी पड़ा है, वहीं पर सत्य का उद्घाटन किसी न किसी रूप में अवश्य हुआ है। इसका प्रमाण उनके समग्र आलोचना साहित्य में खोजा जा सकता है। जैसे तो शास्त्र और विज्ञान के क्षेत्र में कोई भी सिद्धान्त या अन्वेषण अंतिम नहीं होता, सभी मान्यताएँ कालक्रमानुसार परिवर्तित, विकसित और तिरोहित होती रहती हैं, परन्तु आचार्य गुप्त जी की मान्यताएँ इस तरह की नहीं हैं जिन्हें सहज ही विस्मृत किया जा सके। हिंदी आलोचना ज्युत अथवा उन्हीं के द्वारा प्रशस्त किये गये मार्ग का अनुयायी कभी रहा है।

श्यामसुंदरदास-- साहित्यालोचन

"साहित्यालोचन" आलोचना-शास्त्र पर लिखा गया सबसे पहला क्रमबद्ध ग्रंथ है, जिसमें भारतीय सिद्धान्त एवं पश्चिमी सिद्धान्तों की सीमांता व्यापक स्तर पर प्रस्तुत की गयी है। इसके प्रत्येक अध्याय का विवेचन वैज्ञानिक स्तर पर किया गया है। जिन साहित्य सिद्धान्तों की प्रतिस्थापना बाबू श्याम सुंदर द्वारा की गयी है उनमें से कुछ प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं--

- ।क। काव्य की आत्मा रस है। रस अलौकिक और ब्रह्मानंद सहोदर है।
- ।ख। काव्य कला के अन्तर्गत है।
- ।ग। काव्य मानव जीवन का विशद चित्र है। इसके मत के अनुसार कला का सम्बन्ध नियमों से नहीं है, यह तो भावनाओं की केवल अभिव्यक्ति मात्र है।¹

गूढ़ संबंध स्थापित किया है। कला के वर्गीकरण के संबंध में उन्होंने बताया कि कलाओं के वर्गीकरण का कोई अक्षर आधार नहीं है। उसके वर्गीकरण का जो भी आधार होगा वह व्यावहारिक सुविधा के लिए बाधुस्य स्व का वर्गीकरण होगा। ललित कलाओं में इन्होंने पाँच भेद किए हैं-- वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य। भारत में काव्य कला के अन्तर्गत नहीं माना जाता लेकिन इन्होंने सारी कलाओं की मूल प्रेरणा केवल काव्य को ही माना है। बाबू श्यामसुंदर दास ने काव्यात्मा को रस के रूप में स्वीकार किया है। शुक्ल जी की क्लान्यताओं के विस्तृत एवं प्राचीन मान्यताओं के अनुसंधान उन्होंने रस की स्थिति का विवेचन प्रस्तुत किया इन्होंने रस की अलौकिकता को भी स्वीकार किया है। रस अलौकिक है अर्थात् आनंदमय है, आनंदमय इसलिए है क्योंकि साधारणीकरण होता है। रस विवेचन की यह प्रेरणा इनको केशवप्रसाद मिश्र के "मधुमती भूमिका और परप्रत्यक्ष सिद्धान्त दर्शन से मिली है।

इसका तृतीय अध्याय काव्य-विवेचन पर आधारित है। इस ग्रंथ में साहित्यशास्त्र के सम्पूर्ण सिद्धान्त जैसे कला, साहित्य, काव्य, उपन्यास, नाटक कहानी, निबंध और आलोचना के सम्बन्ध में स्थापित विभिन्न विचारों का समन्वयात्मक दृष्टि से वर्णन किया गया है। उनके अनुसार साहित्य और काव्य का भेद मात्र व्यावहारिक है, सात्विक नहीं। आचार्य श्याम सुंदर ने सौन्दर्य, रमणीयार्थ अलंकार और रस तथा भाषा को काव्य का उपकरण माना है। काव्य जितना ही लोकमंगल की भावना से प्रेरित होगा, उतना ही भद्र होगा।

चौथे और पाँचवें अध्याय में क्रमशः कविता और गद्य का विवेचन किया है। काव्य में जहाँ कहीं भी रसमयता एवं रमणीय रचना का समावेश

हो जाता है, वहाँ कविता भी अपना स्थान बना लेती है। कविता के क्षेत्र में जो दो सिद्धान्त प्रचलित हैं जिन पर बाबू जी ने भी गंभीरतापूर्वक विचार किया है वे हैं--।क। कविता का सभ्यता के साथ धीरे-धीरे दास होना और ।ख। कविता का असाधारण परिस्थिति की उपज होना । कलापक्ष और भावपक्ष कविता के दो पहलू होते हैं । बाबू श्याम सुंदर दास ने कलापक्ष का क्षेत्र ओज, गुण, दोष एवं अलंकार को माना और भावपक्ष का क्षेत्र दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र आदि को बताया । मण्टेस्की^१ और आचार्य जगन्नाथ के अनुसार ही इन्होंने भी कविता को परिभाषा दिया है। शाब्दशक्ति के अन्तर्गत अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना तथा छंद विषयक विवेचन भी दास जी के विचारों की मौलिकता का परिचायक है।

गद्य काव्यान्तर्गत इन्होंने दृश्यकव्य, उपन्यास, आख्यायिका और निबन्धों का समावेश किया है। नाटकों के विवेचन के अन्तर्गत पश्चिमी दृष्टि और संस्कृत-नाट्यशास्त्रों का सहारा लिया गया है। गद्यकाव्य में नाटकों का स्थान दृश्य भाग के अन्तर्गत आता है और ब्रह्म भाग के अन्तर्गत उपन्यास, आख्यायिका और निबन्धादि सम्मिलित हैं । विभिन्न विधाओं का पारस्परिक तुलनात्मक अध्ययन भी इस ग्रंथ में प्रस्तुत किया गया है।

बाबू श्याम सुंदर दास ने रस नी प्रकार के बताये हैं । शैली के संबंध में उनकी धारणा है कि कल्पना तत्त्व, बुद्धि तत्त्व और भावतत्त्व से अलग एक शैली तत्त्व भी है। उनके ही शब्दों में " यह स्पष्ट हुआ कि भाव, विचार और कल्पना तो हममें नैसर्गिक अवस्था में वर्तमान ही रहती है और साथ-साथ ही उन्हें व्यक्त करने की स्वाभाविक शक्ति भी, तमें रहती है । इसी शक्ति को साहित्य में शैली कहते हैं ।^१

इस प्रकार इनका साहित्यालोचन नामक ग्रंथ काव्यशास्त्रीय समस्याओं का समाधान अच्छी प्रकार से करता है। यह ग्रंथ मौलिक विचारकों के लिए नींव की तरह से है। इस प्रकार बाबू श्यामसुंदर दास सब लोगों के पथ प्रदर्शक रहे। उनका प्रयत्न भगीरथ प्रयत्न होने के कारण सदैव स्तुत्य है।

लक्ष्मीनारायण सिंह * सुधांगु *

शुक्लयुगीन आलोचकों में * सुधांगुजी का स्थान महत्वपूर्ण है। काव्य में अभिव्यंजनावाद। 1936 ई०। उनकी सबसे पहली आलोचनात्मक कृति है जिसका प्रणयन उन्होंने डॉ० श्याम सुंदर दास की प्रेरणा से किया है। इनका दूसरा ग्रंथ है-- जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त। * काव्य में अभिव्यंजनावाद" नामक विन्य में कुल मिलाकर सात या आठ अध्याय हैं। इसके प्रथम अध्याय में संस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का परिचय है जिसे रस, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति एवं ध्वनि का विवेचन है। काव्यानुभूति को अन्य अनुभूतियों से महत्व का दर्जा देते हुए सुधांगु जी ने लिखा है कि काव्यानुभूति में प्रेक्षणीयता का होना अनिवार्य है। अपनी अनुभूतियों को दूसरे हृदय तक पहुँचाने में हम असमर्थ रहे तो वह काव्यानुभूति न होकर सामान्य अनुभूति ही रह जायेगी। इस ग्रंथ में लेखक का मूल उद्देश्य क्रोचे के मौलिक शास्त्रीय सिद्धान्तों अथवा ओजी की प्रभाववादी आलोचना की व्याख्या करना नहीं, बल्कि अभिव्यंजना सम्बन्धी भारतीय सिद्धान्तों का क्रोचे के सिद्धान्तों के साथ समन्वय स्थापित करना है। उनके अनुसार सहजानुभूति

कल्पना का वह प्रास्य है जो कवि- आत्मा में काव्यवस्तु का विंब अनायास उपस्थित कर देता है। सुधांशु ने बताया है कि श्रौंघे के अनुसार सहजानुभूति या सहजोपलब्ध ज्ञान व्यक्त की अन्तर्वृत्तियों पर निर्भर करता है, जबकि शुकल जी ऐसा नहीं मानते। सुधांशु सहजानुभूति और अभिव्यंजना को एक मानते हैं¹। उनके मतानुसार * सहजानुभूति और व्यंजना में अन्तर नहीं है। सहजानुभूति होती ही अभिव्यंजना प्रस्तुत हो जाती है। यह दूसरी बात है कि उसे वर्णों से अलग रखा जाये।

दूसरे ग्रंथ * जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त * नामक ग्रंथ में सुधांशु जी ने जीवन के तत्त्वों और काव्य के घनिष्ठ तत्त्वों का वर्णन प्रस्तुत किया है। यह दस भागों में वर्णित ग्रंथ है। प्रारंभ के छह अध्यायों तक संबंध निखन का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। सात्वत में लय और छंद का वर्णन है तथा आठवें, नवें और दशम अध्याय में क्रमशः काव्य-प्रवृत्तियों और कवियों के विशेषण द्वारा उन्हें प्रमाणित करने का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रंथ में लेखक ने यह स्वीकार किया है कि भावों का सम्बंध जीवन और काव्य दोनों से है। सुधांशु जी के शब्दों में * जीवन के साथ विषाद का सम्बंध उतना ही गहरा है जितना आनंद। काव्य का आनंद जीवन का स्थायी है, परंतु यह स्थायी परमाथ की परिधि के भीतर रहता आया है। स्थायी आनंद वृत्ति जब जागृत और जीवन के किसी आधार को पाकर जागृत होती है तब प्रफुल्लता होती है और विषाद वृत्ति में झुंझलाहट³। अंत में लेखक ने यह स्वीकार किया है कि

1- काव्य में अभिव्यंजनाविषाद, पृ० 34

2- वही, पृ० 37

3- जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, पृ० 20

जीवन का काव्य से गूढ़ सम्बन्ध है और आत्मभाव ही कवि का सबसे अधिक परिचित जीवन का अंग है । यदि काव्य का जीवन से सम्बन्ध है तो उसका समाज से भी होना चाहिए ।

लय और छंद के तंद्री में शुक्ल जी ने आजकल के मुक्त छंद पर प्रकाश डाला है और उसके सम्बन्ध में उनका विचार है कि छंद पाछे जितने नवीन हों, कविता के साथ लय का बन्धन नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार शुक्ल जी ने आधुनिक काव्य को ध्यान में रखकर पाश्चात्य एवं भारतीय काव्य सिद्धान्त के ग्राह्य तत्वों को अपनाया और उनसे सामंजस्य स्थापित करके शुक्ल जी की पद्धति से अग्रसर किया है ।

बाबू गुलाबराय

बाबू गुलाबराय की दो अमर कृतियाँ हैं---“ काव्य के स्व ” और “ सिद्धान्त और अध्ययन ” । इनके अतिरिक्त “ हिंदी काव्य विमर्श ”, “ अध्ययन और आत्माद ”, “ साहित्य समीक्षा ”, “ मन की बातें ”, आदि ग्रंथ भी गुलाबराय जी की मौलिक प्रतिभा के परिचायक हैं । “ काव्य के स्व और “ सिद्धान्त और अध्ययन ” एक दूसरे के पूरक ग्रंथ हैं । “ काव्य के स्व ” में जहाँ साहित्य के विभिन्न विधाओं के विवेचन के साथ हिंदी साहित्य के विकासका सम्यक् निरूपण है, वहाँ “ सिद्धान्त और अध्ययन ” में भारतीय साहित्य सिद्धान्तों के वर्णन के साथ पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्त की भी विवेचना की गयी है । काव्य के स्व में आठ अध्याय हैं - पहले भाग में साहित्य के स्वरूप का उद्घाटन है । दूसरे भाग में काव्य की परिभाषा एवं विभाग तथा तीसरे में दृश्य काव्य का विवेचन है। चौथे से लेकर आठवें अध्याय तक श्रव्य काव्य की विभिन्न विधाओं एवं धारणाओं पर प्रकाश डाला गया है । सिद्धान्त और अध्ययन में कुल अठारह अध्याय हैं । प्रस्तावना भाग में रीतिकालीन

आचार्यों एवं उनकी कृतियों तथा उपलब्धियों का तक्षिणगत विवेचन है ।
 प्रथम अध्याय में काव्य की आत्मा पर प्रकाश डाला गया है । वे शब्दार्थ
 को काव्य का शरीर स्वीकारते हैं । गुलाबराय जी के शब्दों में " शब्द
 के साथ अर्थ का लगाव है और अर्थ के साथ शब्द का । एक बिना दूसरे की
 पूर्णता नहीं, इसलिए दोनों मिलकर ही काव्य का शरीरत्व सम्पादित करते
 हैं ।

द्वितीय भाग में परम्परागत सम्प्रदायों की भी चर्चा की गयी है ।
 द्वितीयाध्याय में काव्य-परिभाषा देते हुए काव्य-निर्माण में कल्पना तत्त्व,
 बुद्धि तत्त्व और शैली तत्त्व को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है । तीसरा
 आधार काव्य और कला पर आधारित है । जिसमें कला की परिभाषा
 प्रकृति एवं उसका वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। उपयोगी और ललित
 कलाओं का सम्बंध निश्चित करते हुए उन्होंने कहा है कि -- " कलाओं
 का वर्गीकरण कई आधारों पर किया जाता है । सबसे पहला आधार तो
 उपयोगिता और सौन्दर्य का है। जिन कलाओं में उपयोगिता का प्राधान्य
 हो वे उपयोगी और जिनमें सौन्दर्य का प्राधान्य हो वे ललित कलाएँ कही
 जायेंगी ।²

चौथे अध्याय में काव्य-हेतु, पाँचवें में काव्य-प्रयोजन छठें अध्याय
 में काव्यगत मूल प्रेरणाओं का विवेचन किया गया है । आठवें से लेकर
 बारहवें अध्याय तक रस और साधारणीकरण संबंधी विचार किया गया है।
 तेरह से प्रन्धहवें अध्याय तक कवि और पाठक के प्रयात्मक व्यक्तित्व, काव्य
 के विभिन्न रूप, काव्य के कलापक्ष के अन्तर्गत रस, गुण एवं छन्दादि का वर्णन ।

1- सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० 29

2- -- वही--, पृ० 58

पन्द्रहवें भाग में शाब्द-शक्ति विवेचन है। जिसमें अभिज्ञा, लक्षणा और व्यंजना पर प्रकाश डाला गया है। लगभग सभी भेदों-उपभेदों की उचित चर्चा है। सोलहवें भाग में टवनि एवं उसके मुख्य भेदोपभेद हैं सत्रहवें भाग में अभिव्यंजनावाद एवं कलावाद का सम्बंध वर्णित है। समालोचना के मानदण्ड अंतिम भाग। अठारहवें। में दर्शाए गए हैं।

भारतीय साहित्य के चिन्तन के प्रति बाबू गुलाबराय जी की अपूर्व श्रद्धा थी। यही कारण है कि बाबूजी के ग्रंथों में प्राचीन एवं नवीन सिद्धान्तों का समन्वय देखने को मिलता है। उन्होंने शास्त्रीय प्रश्नों को भी आधुनिकता के आलोक में देखा है। "अभिव्यंजनावाद और कलावाद" रस और मनोविज्ञान " आदि साहित्य सिद्धान्तों की चर्चा में बाबू जी की मौलिकता स्पष्टतया झिलमिलती है। इनके सिद्धान्त शुक्ल जी के सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक जलपीले हैं।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र--"वाङ्मय विमर्श"

मिश्र जी का "वाङ्मय विमर्श" एक साहित्यशास्त्रीय ग्रंथ है। इसका एक छेड़ काव्यशास्त्रीय एवं दूसरा छेड़ ऐतिहासिक है। आलोचना सिद्धान्त के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल जी को ही इन्होंने अपना आधार बनाया है। मिश्र जी की "रसवाद" को प्रश्रय देते हैं, लेकिन उनमें शुक्ल जी की तरह नवीन परिकल्पनाएँ नहीं हैं। मिश्र जी ने रस तथा काव्य सम्प्रदायों की चर्चा पुराने लक्षण ग्रंथों के आधार पर की है। इन्होंने साहित्य को एक शाश्वत भावधारा का अभिव्यंजक रूप स्वीकार किया है। आचार्य मिश्र ने पाश्चात्य विचारों को अपने ग्रंथ में उसी अंश तक अपनाया है जिस अंश तक

वे भारतीय रसवाद के समीप जान पहुँचे हैं । भारतीय एवं पार्श्ववात्य दोनों मतों का अलग-अलग वर्णन इनके द्वारा प्रस्तुत किया गया है । इन्होंने भी आचार्य शुक्ल की तरह साहित्य को लोकहित का पूरक बताया है ।

डॉ० नेगेन्द्र

संशोधित आलोचकों के साथ डॉ० नेगेन्द्र का नाम प्रसुखता के साथ लिया जाता है । डॉ० नेगेन्द्र ने अपनी व्यावहारिक समीक्षा की पुस्तक-- "सुमित्रानन्दन पंत" के साथ हिंदी आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश किया । उस समय इनके सिद्धान्तिक आलोचना से सम्बन्धित सभी निबंध "विचार और अनुभूति" में संकलित हैं । इस पुस्तक के अधिकांश निबंधों में व्यावहारिक आलोचना के दर्शन होते हैं । इनके निबंधों में भारतीय एवं पार्श्ववात्य सिद्धान्तों का सम्मिश्रण है। कहीं-कहीं तो वे शुद्ध रूप से फ्रायड, फुन और एडलर का अनुकरण करते दिखायी पड़ते हैं । उनके निबंधों में अभिव्यंजनावादी, कलावादी, सौन्दर्यावादी, रसवादी विचारधारा के दर्शन भी होते हैं ।

नेगेन्द्र जी प्रसुखतः रस सिद्धान्त के पोषक हैं । संस्कृत के प्राचीन आचार्यों के ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद कर उसके महत्त्व को प्रतिस्थापित करने में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। "भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका" भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा, अरस्तु का काव्य-सिद्धान्त, विचार और विवेचन, विचार और अनुभूति आदि इनकी महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली रचनाएँ हैं ।

डॉ० नेगेन्द्र ने अपने ग्रंथ "भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा" में आचार्य भरत से लेकर हिंदी के वर्तमान आलोचकों तक के प्रतिनिधि काव्य सिद्धान्तों का संकलन किया है ।

इस ग्रंथ में संस्कृत-आचार्यों के वक्तव्यों का हिंदी अनुवाद पहले और मूल भाग में उद्धृत है। विभिन्न आचार्यों के काव्यसिद्धान्तों को एक जगह प्रतिस्थापित करने का यह प्रयास हिंदी साहित्य के क्षेत्र में एक नवीन उपलब्धि है। आस्था के चरण डॉ० नैन्द का दूसरा महत्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है। यह ग्रंथ चार खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड के दो भाग हैं -- 1। अनुसंधान और 2। सिद्धांत। पहले खंड में अनुसंधान का स्वस्य तथा उससे संबंधित विभिन्न समस्याओं पर विचार किया गया है। द्वितीय भाग में साहित्य संबंधी सिद्धान्तों का समावेश है। इसके अन्तर्गत साहित्यिक मान्यताएँ, उनका स्वस्यगत विवेचन तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में अध्ययन संबंधी विचार रखे गये हैं।

दूसरा खंड भी दो भागों में विभक्त है -- दूसरे खंड के दूसरे दोनों भागों में हिंदी कविता एवं हिंदी साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों पर विचार किया गया है। तीसरे खंड के दोनों भागों में विभिन्न कृतियाँ एवं कृतिकारों का विवेचन किया गया है। चौथे खंड में प्रथम भाग में महत्वपूर्ण कवियों का चित्रण तथा दूसरे भाग में साहित्य की शिक्षा तथा शासन और हिंदी के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीय संकट और साहित्य का विवेचन किया गया है।

डॉ० नैन्द को काव्यशास्त्रीय आचार्यों की कौटि में जाने का प्रिय उनके महत्वपूर्ण ग्रंथ "रस सिद्धांत" को है। स्वयं नैन्द जी के शब्दों में "मूल योजना के अनुसार यह ग्रंथ "भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा" का प्रथम भाग है जो द्वितीय भाग के लगभग नौ वर्ष बाद प्रकाशित हो रहा है।

अनेक कारणों से इसे में अपनी साहित्य साधना की परिणति माना है । कुल मिलाकर इस कृति में छह अध्याय हैं । प्रथम अध्याय में रस शब्द का अर्थ-विकास, रस सम्प्रदाय का इतिवृत्त एवं द्वितीय अध्याय में रस की परिभाषा, रस का स्वल्प आदि विषयों पर विचार प्रकट किये गये हैं । तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय में रस- निव्यक्ति, रस का स्थान, साधारणीकरण, भाव का विवेचन, लौकिक भाव का विवेचन, भावों की संख्या, वाश्यात्य काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान में भावों का वर्णन आदि विषयों का स्पष्टीकरण है। रस की संख्या पर भी इसी अध्याय में विचार हुआ है । पाँचवें में रस के परस्पर संबंधों अंगीरस, रसविघ्न, रसाभास आदि का विवेचन है ।

छठे अध्याय में रस सिद्धान्त शक्ति और सीमा, रस का सही अर्थ-- रस की परिधि, रस तथा भारतीय काव्य सिद्धान्त, रस सिद्धान्त आक्षेप और समाधान जैसे गंभीर एवं प्रौढ़ विषयों पर विचार प्रस्तुत किये हैं । डॉ० नगेन्द्र, भरत, अभिनवगुप्त, बोजराज एवं विश्वनाथ की परंपरा में रसवाद आचार्य हैं जिनकी मान्यता है कि रस ही काव्य का प्राणभूत तत्त्व है। इनमें मोलिकता स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है । कुछ ऐसे प्रश्नों का समाधान भी किया गया है जिसमें लगता है कि डॉ० नगेन्द्र की प्रतिभा अद्वितीय है यथा- साधारणीकरण किसका होता है ? रस आस्वाद्य है या आस्वाद-त्वं ? रसानुभूति मात्र आनंदात्मक ही क्यों होती है ? क्या ऐसी कोई व्यापक रसानुभूति संभव है जो अपने में अन्य सभी प्रकार की अनुभूतियों को समाविष्ट कर ले ?

निकर्षितः कहा जा सकता है कि "रस सिद्धान्त" नामक कृति उनके साहित्य समीक्षा विषयक साधना मंदिर पर झिलमिल करता हुआ यशः कलशा है ।

उपरोक्त हिन्दी के आधुनिक काव्यशास्त्र के विवेचन से स्पष्ट है कि इस काल के प्रारंभिक आचार्यों- हरिऔध, कन्हैयालाल शोददार, पं० रामदहिन मिश्र आदि ने मुख्य रूप से संस्कृत आचार्यों का ही अनुकरण किया है । आचार्य शुक्ल से हिंदी काव्यशास्त्रीय चिंतन परंपरा में एक नवीन मोड़ दिखायी पड़ता है । यहाँ तक आते-आते हिंदी काव्यशास्त्र विश्व साहित्य स्तर की मान्यताओं एवं बातों को भी धौड़ा बहुत स्पर्श करने लगा । आचार्य शुक्ल के परवर्ती आचार्यों बाबू गुलाबराय पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० नगेन्द्र आदि ने भी संस्कृत की मान्यताओं का अनुकरण किया तो है लेकिन वहीं तक किया है जहाँ तक उनकी उपयोगिता रही है। हिंदी साहित्य में गद्य के प्रचुर प्रारंभिक ने भी आधुनिक हिंदी काव्यशास्त्र को पर्याप्त प्रभावित किया और उसके चिंतन को विस्तृत एवं व्यापक बनाकर विशिष्ट गति प्रदान की है ।

0000000000000000000000000000

0000000000000000000000000000

0000000000000000000000000000

0000000000000000000000000000

0000000000000000000000000000

0000000000000000000000000000

00000000

00000

000

=====

द्वितीय अध्याय - शब्द शक्ति पर कार्य करने वाले

प्रमुख आचार्यों एवं उनके कार्यों का परिचय

=====

संस्कृत काव्यशास्त्र में शब्द शक्ति सम्बन्धी सिद्धान्तिक विवेचन समग्र रूप में मूलतः अपना नहीं । पूर्व मीमांसा¹न्याय के² ग्रंथों में शब्दशक्ति का प्राचीनतम रूप हमें दृष्टिगोचर होता है ।

सामान्यतः संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने अनेक स्थानों से सामग्री ग्रहण की है, पर मुख्य रूप से व्याकरण के ही सिद्धान्तों को अपना प्रमुख आधार घोषित किया है। शब्द शक्ति विवेचन के क्षेत्र में संस्कृत काव्यशास्त्र के अग्र मीमांसकों एवं नैयायिकों का उतना प्रभाव नहीं, जितना कि व्याकरणों का । नगेश त्रयंबक देश पांडे ने काव्य शास्त्र के क्षेत्र में व्याकरण के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि सभी महत्त्वपूर्ण कार्यों में काव्यशास्त्र ने व्याकरण का आश्रय ग्रहण किया है । ... भामह से नगेश भट्ट तक के किसी भी आलोचक का ग्रंथ देखने से व्याकरण का अक्षर हर पृष्ठ पर प्रत्यक्ष दिखाई देता है।"³

"शब्द शक्ति" पर सम्यक् रूप से प्रकाश डालने के लिए निम्नलिखित प्रसंगों पर विचार करना अपेक्षित है।

1. वाक्य

"ऐसा पद-समूह जो पूर्ण अर्थ का वाक्य है वाक्य कहलाता है।"⁴ वाक्य में प्रयुक्त सार्थक शब्द को पद कहते हैं । वह वर्ग समूह जो किसी अर्थ का वाक्य होता है सार्थक शब्द कहा जाता है- यथाधर, कमल, परन्तु में, घल आदि । ये शब्द जब तक वाक्य में प्रयुक्त नहीं होते पद नहीं कहाते । शब्द ही कहाते हैं।

" सार्थक पद-समूह " तदा एक वाक्य बन जाये आवश्यक नहीं है।

इसमें तीन क्षमतारें आवश्यक हैं- आकर्षा, योग्यता और तन्निधि ।

-
- 1- 1. आ. शब्दशक्ति. शब्द. 3/1/6/12 । 2. तत्रतात्त्विक. कुमारिल. 3/1/6/13
 - 2- 1. आ. शक्तिवाद । गदाधर भट्टाचार्य । 2. तत्त्वार्थतामसि । नगेश उपाध्याय । घटुर्थ छण्डे, शक्तिवाद । 3. त. पदार्थ तत्त्व निखन । रघुनाथ शिरोमणि ।
 - 3- भारतीय साहित्यशास्त्र. उत्तरार्द्ध. पृ. 15 एवं 152
 - 4- पदसमूहो वाक्यम् अर्थ समाप्ती- मंजूषा- नगेश भट्ट, पृ. 0

आकांक्षा कहते हैं परस्पर अन्विति को । वही पद जो एक दूसरे की आकांक्षा रखते हों वाक्य कहते हैं । जैसे - लेखनी, पुस्तक, गृह, व्यक्ति-- ये पद-समूह तो हैं पर साकांक्ष नहीं है अतः वाक्य नहीं है ।

योग्यता का अर्थ है * वीदिक संगति * यथा वह व्यक्ति उद्यान को आग से सींचता है । वह वाक्य नहीं होगा, क्योंकि आग में सींचने की योग्यता नहीं है ।

सन्निधि का अर्थ है काल व्यवधान का अभाव । जैसे * राम बाजार जा रहा है । यह पद समूह सभी वाक्य कहाने योग्य है जब प्रत्येक उच्चरित पद के बीच काल का व्यवधान उतना हो जितना कि सामान्य रूप से औचित्य है, अन्यथा नहीं ।

सारांशतया उस सांकेतिक पद-समूह को वाक्य कहते हैं जो आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि इन तीन क्षमताओं से युक्त हो जैसा कि आचार्य विश्वनाथ ने बताया है --

वाक्यस्याद् योग्याडिडकाडिडसन्ति युक्तः
पटोच्यः ।¹

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने वाक्य के लिए चार लक्षण बताये हैं--

- । आ। आरुयात् साडध्यकारक विशेषण वाक्य
- । आ। सक्रिया विशेषणम् च,
- । इ। आरुयात् य विशेषणम्,
- । ई। एक तिङ्,

उपयुक्त प्रथम दो लक्षण परस्पर संबद्ध हैं । इनका अर्थ है कि वाक्य उस आरुयात् क्रिया को कहते हैं जिसके साथ अध्यय, कारक, विशेषण और

क्रिया-विशेषण में से किसी एक, दो, तीन अथवा चारों का प्रयोग किया जा सके । तीसरा लक्षण उक्त दोनों लक्षणों का संक्षिप्त-रूप प्रस्तुत करता है । इस लक्षण में विशेषण शब्द का अर्थ है-- अवयव, कारक, विशेषण और क्रिया-विशेषण अतः इस लक्षण का भी वही अर्थ है जो पूर्व में दिया गया है ।

चतुर्थ लक्षणानुसार वाक्य उसे कहते हैं जिसमें एक तिङ्, अर्थात् एक क्रिया का प्रयोग किया जाय । यहाँ बात उल्लेखनीय है कि यहाँ तिङ्, से तात्पर्य केवल तिङ्=त क्रियारं, पठति, अपठ्य आदि। अभीष्ट नहीं है, अपितु कृदन्त "क्रियारं" भी अभीष्ट हैं यथा- मया भक्षितम तेन कृतम आदि ।

सारांशितः उपर्युक्त चारों लक्षणों में क्रिया वर धन दिया गया है। क्रिया के बिना वाक्य नहीं बन सकता । किन्तु कभी-कभी बिना क्रिया के भी वाक्य प्रयुक्त होते हैं जैसे- " अब वक्त " । किन्तु ऐसे वाक्यों में भी क्रिया का अयाहार कर लिया जाता है । यहाँ " करो " क्रिया का अयाहार है । अतः यह सिद्धान्त मान्य है कि क्रिया वाक्य का अनिवार्य तत्त्व है, चाहे वह स्पष्टतः प्रयुक्त हो अथवा आक्षिप्त रूपेण ।

शब्द

भारतीय धिन्तन परम्परा में शब्द को । वाक्-शक्ति। की जो स्थान प्राप्त है वह स्थान शब्द ही किसी अन्य धिन्तन परम्परा में हो ।

ऋग्वेद में वाक्शक्ति की तुलना ब्रह्म की व्यापकता से की गयी है।
वैयाकरण भट्टरि के मतानुसार वाक्यशक्ति न केवल बोलती है, वरन वह देखती भी है । इसी में निहित अर्थ का विस्तार होता है । विभिन्न

1.- वाचद ब्रह्म विचिर्त्तं तावती वाक् । ऋग्वेद ।

स्वों से युक्त यह संसार इसी में निबद्ध है। और इसके ही विभागों पर संसार का व्यवहार आधारित है।¹ आचार्य टण्डी की धोखना कि " यदि यह संसार शब्द नामक ज्योति से आलोकित न होता तो समस्त त्रिलोकी गहन अन्धकार में विलीन हो जाती।"²

शब्द का लक्षण देते हुए आचार्य विश्वनाथ देवे ने कहा है —आकांक्षा, योग्यता से युक्त तात्पर्य एवं आसक्ति आदि से समन्वित शब्दजन्य ज्ञान को जो बोध कराता है, वह शब्द कहलाता है।³

शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध

कानिदास ने शब्द और अर्थ को एक ही तत्त्व के दो पक्ष के रूप में अपनी स्वीकृति दी है उनके अनुसार जिस प्रकार पार्वती और परमेश्वर नित्य संसर्ग हैं उसी प्रकार शब्द और अर्थ भी ही दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं किंतु तत्त्व एक ही है।⁴ वैसे भी शब्द का अपने अर्थ के साथ वाच्य वाचक भाव सम्बंध माना जाता है। शब्द और अर्थ में कार्य कारण भाव सम्बंध भी है, क्योंकि शब्द अर्थ का कारण है। शब्द पूर्वक अर्थ की प्रतीति होती है।

1- वाग्वार्थं पश्यति वायु ऋषीति वाग्वार्थं निहितंतंतनोति ।

वायिष विश्वं बहुल्यं निबद्धं तदेतदेकं प्रविभज्यौषर्भुक्ते ॥

--वाक्यटीप- 1/119

2- हृदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।

यदि शब्दाद्यर्थे ज्योतिःशतं न दीप्यते ॥

--काट्यदर्श- 1, 4

3- आकांक्षायोग्यता युक्ततात्पर्यादिसमन्वितः ।

शब्दानुभवकारी यः स शब्दः परिचीर्तितः

--2.8.तादित्य सुधासिंधु, पृष्ठ 31

4- वागर्थविष सम्युक्ती वागर्थ्यति परतये ।

ज्ञातः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरी ॥ 1/1, रघुवंग

श्रोता के मन में जो शब्द सुनने के बाद प्रतीत होता है, उसका जन्म शब्द ही होता है। दूसरे, अर्थ ही शब्द का कारण है क्योंकि बोलने वाला व्यक्ति पहले मन में अर्थ रख कर ही तत्तत् शब्द का प्रयोग करता है।

दार्शनिकों ने शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध सकित रूप तथा सम्बंध रूप दो प्रकार का बताया है। सकित, शब्द और अर्थ का साक्षात्सम्बन्ध रूप है तो लक्षण परम्परा- सम्बंध रूप है।¹

शब्दार्थ के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों ने भिन्न प्रकारेण चर्चा की है। शब्दार्थ का पारस्परिक सम्बंध संपर्क, सहयोग एवं सहभाव के विषय में भी चिंतन किया गया है।

पतंजलिकालीन शब्दार्थ विषयक विवेचना के ऊपर दृष्टिपत करने के पश्चात् यह बात होती है कि इस विषय पर सर्वप्रथम शास्त्रीय स्तर पर वैयाकरणों ने विचार किया है।

वैयाकरण शब्द एवं अर्थ के सम्बंध को नित्य मानते हैं। प्रमाण के रूप में महाभाष्यकार पतंजलि ने कात्यायन-प्रस्तुत " सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे " वार्तिक की व्याख्या प्रस्तुत की है। कैयट के अनुसार शब्द में एक स्वाभाविक योग्यता है। जब शब्द का उच्चारण किया जाता है तब वह अर्थ की उपस्थिति कराता है। द्रव्य रूपी अर्थ के अनित्य होने पर सम्बंध को नित्य ही माना जाता है, क्योंकि अर्थबोधन की योग्यता शब्द में रहती है और शब्द नित्य है।²

1- काव्यकल्पलतावृत्ति-- पृ० ५५

2- महाभाष्य प्रदीप- पृ० ५०। सम्पादक-आचार्य मधुसूदन प्रसाद मिश्र।

भट्टहरि अर्थ के स्वल्प को शब्द के उभर आधारित मानते हैं । उनका कथन है कि " जिस शब्द के उच्चारण से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वह उस शब्द का ही अर्थ है।¹ यही कारण है कि उन्होंने शब्द और अर्थ को एक ही आत्मा के दो स्वल्प माना है ।²

ध्वनि और नाद

भट्टहरि नाद को ध्वनि का विवर्त मानते हैं ।³ इनके अनुसार जो स्फोट का अभिव्यंजक है उसे ध्वनि कहते हैं । लोक में जो ध्वनि समूह पदार्थ बोधक के रूप में प्रसिद्ध है, श्रोतेन्द्रिय ग्राह्य है और वर्णरूप है वह शब्द है । इस दृष्टि से ध्वनि और शब्द में कोई अन्तर नहीं है ।

नाद। ध्वनि । और स्फोट

शब्द को नित्य मानने वाले धैयाकरणों व मीमांसकों के मत में नाद और स्फोट में अन्तर यह है कि नाद व्यंजक और स्फोट व्यंग्य है। अनित्य वादी प्रथम अभिघाटन ध्वनि को शब्द अथवा स्फोट कहते हैं और उससे उत्पन्न होने पर उससे भिन्न ध्वनियों को ध्वनि अथवा नाद कहते हैं ।⁴

1- वाक्यदीप, 2/330

2- एकस्वैवात्मनो भेदो शब्दार्थावपृथक्स्थितौ, वाक्यदीप, 3/3।

3- तद्य तूष्मे व्यापिनि ध्वनी करण व्यापारेण प्रतीयमाने

स्थूलनाग्रासंघातवदुपलब्धेन नादात्मना प्राप्त विवर्तेन ।

—वाक्यदीप, पृ० 106

4- प्रथमोऽभिघातजस्तास्तरः शब्दः, तदन्यो नाद इति स्पष्ट एव भेदः।

—वाक्यदीप, पृ० 17।

नाद व शब्द में अन्तर

प्रत्येक उच्चारित नाद तब तक " शब्द " । वाचक शब्द। कहलाने का अधिकारी नहीं बनता, जब तक कि वह किसी सैकेत का ग्रहण नहीं करता । परिणामतः इस नाद अर्थात् ध्वनिमात्र से किसी अर्थ की प्रतीति नहीं होती । उदाहरणार्थ " भवन " शब्द हमारे लिए तार्थक होता हुआ भी भारतीय भाषाओं से अनभिज्ञ आंग्लभाषी व्यक्ति के लिए शब्द विशेष न होकर नाद मात्र है । जब वह नाद किसी सैकेत का ग्रहण करता है तब वह किसी शब्द विशेष का प्रतिपादन करता है और तभी वह नाद शब्द कहलाने का अधिकारी बनता है।

ध्वनि और स्फोट

ध्वनि और स्फोट शब्द से सम्बन्धित हैं । ध्वनि व्यञ्जकत्व से शब्द का उपकारक है, स्फोट व्यङ्ग्य है। ध्वनि कहीं अल्प स्वात्मक है तो कहीं महानता को धारण करती है और कहीं उभयस्वी भी है।¹ लोचकार के अनुसार करणों अर्थात् जिह्वादि स्थानों के साथ संयोग और वियोग के कारण जो उत्पन्न होता है, वह स्फोट है और । द्रव्यमान शब्दों से उत्पन्न शब्दों को अन्य उत्पत्तिवादियों ने ध्वनि कहा है । वैयाकरण भूषण के एक टीकाकार कृष्णमित्र ने स्फोट को ही पशवाक्ष माना है। पशवाक्ष ही शब्द ब्रह्म है ।²

1- ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते ।

अल्पो महश्च केषाद्विषदुभयं तत्त्वभावतः ।।

--महाभाष्य प्रदीप, पृ० 564

2- -अनपरावाक्ष स्फोट शब्देनोच्यते तेष ब्रह्मशब्द इत्युच्यते ।

वैयाकरण भूषण सटीक, पृ० ।

- संस्कृत व्याकरण दर्शन, रामसुरेश त्रिपाठी, पृ० 43 पर उद्धृत ।

धियाकरणों का मत

धियाकरणों के मतानुसार शब्द दो प्रकार का है । कार्य । अनित्य ।
और नित्य ।¹ अनित्य शब्द से धियाकरणों का तात्पर्य है --उच्चारण जन्य
और श्रोताग्राह्य ध्वनि अथवा नाद, तथा नित्य शब्द से उनका तात्पर्य,
उस मूल शब्द तत्त्व से है जो न तो उच्चारण जन्य है और न श्रोताग्राह्य है।
इसे उन्होंने स्फोट की संज्ञा दी है । स्फोट की स्वस्य निस्पृह व्युत्पत्ति
है-- स्फुटयोऽहमादिति स्फोटः² अर्थात् जितने अक्षर स्फुटित होता है ।
इस प्रकार शब्द के दो रूप हैं-- ध्वनि और स्फोट । ध्वनि से व्यक्त होने
पर स्फोट अक्षर विशेष का प्रत्यायक होता है । प्रकारान्तर से यह भी कहा
जा सकता है कि स्फोट व्यंग्य है, ध्वनि उसका व्यंजक है ।³ उदाहरणार्थ-
राम, गी, अश्व, गमन आदि उच्चार्यमाण अथवा श्रोत-ग्राह्य शब्द
ध्वन्यात्मक हैं और इनके अनादि काल से आगत रूप स्फोटात्मक हैं । ध्वन्यात्मक
शब्द अनित्य हैं, क्योंकि वे देश, काल, वक्ता आदि के भेद से भिन्न-
भिन्न रूपों को धारण कर लेते हैं । परन्तु स्फोटात्मक शब्द नित्य हैं,
क्योंकि वे अकण्ड, सर्वदेश, कालव्यापी एवं सर्व-स्वात्मक हैं अर्थात् प्रत्यायक की
शक्ति भी स्फोट में ही है न कि ध्वनि। नाद अथवा वर्ण समुदाय में ।
ध्वनि और स्फोट के स्वस्य में स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जा सकती है ।

1- तत्र त्वेष्ट निर्णयः । यद्यपि नित्यः, अथापि कार्यः
उभयापि त्वाणं प्रवर्त्यमिति ।

- महाभाष्य, पृ० 20

2- शब्द हीसुम्भ- भट्टोपि दीक्षित, पृ० 12

3- व्यंग्य व्यंजक भावेन तथैव स्फोट नादयोः ।- वाक्य प्रदीप, पृ० 21

ध्वनि अल्प और दीर्घ होती रहती है पर स्फोट तदा एक रूप रहता है। ध्वनि में ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत, द्रुत और अतिद्रुत तथा विलम्बित और अति विलम्बित वृत्तियों के कारण अन्तर पड़ जाना स्वाभाविक है, परन्तु स्फोट अभिन्न कालिक, निर्विकल्पक पूर्ण और नित्य है। लोक में जिस शब्द को अनित्य कहा जाता है, वह ध्वनि है, किंतु स्फोट नित्य होने के साथ ही अर्थ प्रत्यामन का मूल कारण है। यथार्थतः स्फोट ही शब्द है। लोक व्यवहार में ध्वनि को शब्द नाम से पुकारना उपधार मात्र है।¹

काव्यशास्त्रियों पर वैयाकरणों का प्रभाव

शब्द और अर्थ के स्वरूप के सम्बंध में वैयाकरणों का प्रभाव संस्कृत के काव्यशास्त्रीय आचार्यों पर पड़ा। ये भी शब्दार्थ सम्बंध को नित्य स्मरण स्वीकार करते गये आये हैं। स्फोटवादियों के शब्द और अर्थ के संबंध का प्रभाव आचार्य भरत,² भामह,³ रुद्रट⁴ एवं मम्मटाचार्य⁵ के काव्य लक्ष्यों में देखा जा सकता है। एक अन्य प्रभाव भी काव्यशास्त्रियों पर स्फोटवादियों का पड़ा वह है ध्वनि नामक तत्त्व की स्वीकृति। वस्तुतः यह

- 1- अन्य ध्वनिस्फोटयोर्भेदस्य व्यवस्थापितत्वाद् इहाभेदेन व्यवहारेऽपि न दोषः । -महाभाष्य- कैमटकृत व्याख्या, पृ० ३
- 2- मुदु ललित पदार्थः— भवति ज्ञाति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् । नाट्यशास्त्र, 17/123
- 3- शब्दार्थो सहितो काव्यम्- काव्यालंकार, भामह, 1/16
- 4- ननु शब्दार्थो काव्यम्- काव्यालंकार -रुद्रट
- 5- तददोषो शब्दार्थो मनुष्यावनलंकृति पुनः क्वापि ।-काव्यप्रकाश, 1/4

प्रभाव प्रत्यक्ष न होकर अत्यक्ष है। स्फोटवादियों ने दृष्टाव्यमाण शब्द अर्थात् ध्वनि अथवा नाद को व्यंजक माना है और स्फोट को व्यंग्य । इधर काव्यशास्त्रियों ने व्यंजक शब्द और अर्थ दोनों को ध्वनि ही संज्ञा दी है स्वयं मम्मट ने इस अत्यक्ष प्रभाव : के बारे में कहा है-

सुधीत्याकरणेः प्रधानशून्यस्फोटस्य व्यंग्यव्यंजकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति
 व्यवहारः कृतः । ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्ययभाषित वाच्य
 व्यंग्य व्यंजनक्षमस्य शब्दार्थ युक्तस्य ।* ।

शब्द शक्ति का स्रोत : व्याकरण

शब्द शक्ति के प्रमुख तीन स्रोतों-- अभिधा, लक्षणा और व्यंजना में से प्रथम दो शक्तियों के स्रोत व्याकरण ग्रंथों में प्रत्यक्ष और स्पष्ट रूप से प्राप्त है। परन्तु मम्मट से पूर्ववर्ती व्याकरण ग्रंथों में व्यंजना शब्द शक्ति से सम्बद्ध होते सकेत प्रत्यक्ष अथवा स्पष्ट रूप से प्रायः प्राप्त नहीं होते, जिन्हें काव्यशास्त्र में प्रतिपादित व्यंजना शक्ति का मूल स्रोत माना जा सके। हाँ मम्मट के बाद वैयकरणों ने इस शक्ति की आवश्यकता का अनुभव किया है। नागेश जैसे सुप्रसिद्ध वैयकरण ने न केवल व्यंजना का स्वल्प काव्यशास्त्र के अनुकूल निर्दिष्ट किया है, अपितु व्याकरणशास्त्र का भी एक आवश्यक तत्त्व स्वीकारा है।¹ अभिधा शक्ति से सम्बद्ध प्रायः सभी प्रसंग व्याकरण ग्रंथों में उपलब्ध है यथा-- अभिधा शक्ति से सम्बद्ध प्रायः सभी प्रसंग व्याकरण ग्रंथों में उपलब्ध हैं। भट्टर ने कहा है कि शब्दों में अभिधानावाचक। और अभिधेय। वाच्य। का सम्बन्ध अभिधा नामक शब्द-शक्ति के द्वारा प्रमाणित होता है।² काव्य शास्त्रीय आचार्यों ने अभिधामूला व्यंजना नामक शब्दशक्ति के अन्तर्गत अनेकार्थक शब्दों को एक अर्थ में नियंत्रित करने के लिए घोटह कारणों का उल्लेख किया है। जिसका परिचय हमें वाक्य पदीय में ही देखने को मिलता है।³ अभिधेयार्थ की

1- स्फोटस्य च व्यंग्यता। भट्ट। दर्पादिभिरुक्तेषु ।

घोटकत्वं च समश्चिद्येषुत पद व्यञ्जकत्वमेव-इति वैयकरणानामध्येतत्स्वीक आवश्यकः ।-- वै. ति. म. पृ० 160

2- क्रियाव्यपेतः सम्बंधो दृष्टः करण कर्मणोः ।

अभिधानियमस्तत्मादभिधानाभिधेयौः ।।-वाक्यपदीय, 2/408

3- वाक्यपदीय, 1/317, 318

परिकल्पना मात्र लोकव्यवहार से की जाती है जिसका उल्लेख महाभाष्य में अनेक स्थलों पर मिलता है¹। तैत्तिरीय शाब्द के जिन चार भेदों का उल्लेख महाभाष्य में प्रस्तुत किया गया है उसका स्पष्टतया उल्लेख काव्यकाराकार ने अपने ग्रंथ में किया है²।

लक्षणा शाब्दशास्त्र के क्षेत्र में भी व्याकरणशास्त्र पहले से ही सुसम्पन्न रहा है। पतंजलि ने पाणिनी के सूत्र "युयोगादाहयापाशु" 1.3.40 46।, 48। की व्याख्या के अन्तर्गत एक प्रश्न के माध्यम से दो भिन्न पदार्थों में अभिन्नता अर्थात् तादात्म्य स्थापित करने के लिए चार प्रकार बताए हैं-- तादस्थ्य, तादर्थ्य, तत्तामीप्य, तत्ताहवार्थ। उन प्रकारों को मम्मट जैसे संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने तैत्तिरीय शाब्द की भाँति ही साथ ही साथ उदाहरण भी आत्मसात् कर लिए हैं।

शाब्दशास्त्र और संस्कृत काव्यशास्त्र

संस्कृत काव्यशास्त्र में शाब्दशास्त्र विवेचन की पूर्व परम्परा चली आ रही है। अनेक आचार्यों ने विविध प्रकारेण इस तंत्र में प्रकाश डाला है। पर शाब्दशास्त्रियों का सर्वप्रथम रक्त, व्यवस्थित, विशद तथा संग्रहात्मक निरूपण मम्मट ने अपने ग्रंथ "काव्यकाश" में प्रस्तुत किया है। उनका "शाब्द व्यापार विचार" भी इसी विषय से सम्बद्ध ग्रंथ माना जा है। यद्यपि मम्मट से पूर्व आनन्दवर्धन "ध्वन्यालोक" में तथा मुकुल भट्ट

1- महाभाष्य- प्रथमआन्त, पृ० 17

2- वही, द्वितीय आन्त, पृ० 37

"अभिधावृत्तिमातृका" में इन पर प्रकाश डाल चुके थे पर इन ग्रंथों में एक साथ सम्पूर्ण सामग्री उपलब्ध नहीं हुई। ध्वन्यालोक में ध्वनिः ध्वजना रागिता और तत्सम्बद्ध ध्वन्यार्थ का ही विघट विवेचन है, शेष अभिधा और लक्षणा की प्रसंगवशां अनेक स्थलों पर वर्णमात्र कर दी गयी है।¹ अभिधा-वृत्तिमातृका में एक ही ध्वजना को लक्षणा का ही एक रूप माना गया है² और दूसरे, लक्षणा को भी अभिधा का ही स्थानित माना गया है। हाँ यह सच है कि मम्मट ने इन दोनों ग्रंथों से पूर्ण सहायता अवश्य ली है उदाहरणार्थ- ध्वजना के स्वरूप तथा कुछ एक ध्वजना विरोधी मतों के खण्डन के लिए वे आनन्दवर्द्धन के ऋणी हैं³ और अभिधा प्रसंगगत सैकत के जाति आदि चार भेदों लक्षणा के विविध भेदों तथा तात्पर्यार्थ वृत्ति के शास्त्रीय निस्कर्ष के लिए वे मुकुल भट्ट के ऋणी हैं। इसी प्रकार अभिन्न गुप्त रचित दोनों टीकाओं- लोचन और अभिन्न भारती से भी मम्मट ने सहायता ली है तथा ध्वनि विरोधी आचार्यों से भी। पर इस सब विपुल सामग्री को सर्वप्रथम व्यवस्थित संघटन का रूप देने का श्रेय आचार्य मम्मट को ही है। यही कारण है कि इस दशा में संस्कृत के भाषी आचार्य इनके ऋणी हैं।

1- उदाहरणार्थ- ध्वन्यालोक ३. ३३ तथा वृत्तिभाग ।

2- लक्षणाभागविगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयेर्मुक्तं तयोपवर्णितस्य विवृत इति दिशामुन्मी लयितुमिदमत्रोक्तम्-- अभिधावृत्तिमातृका, 12, वृत्ति

3- ध्वन्यालोक, 1 7, 14, 16, 17, 18,

सम्मत के पूर्वजायों में रुद्र, वामन, भट्टनायक धर्मजय तथा महिमभट्ट का भी महत्वपूर्ण स्थान है। रुद्र ने " अभिधाशक्ति" और " वाचक " शब्द का उल्लेख करते हुए शब्द के द्रव्यादि चार भेद बताये हैं ।¹ आचार्य वामन ने " सादृश्य- निबन्धता लक्षणा" की ही वक्रोक्ति पद से अभिहित किया है।² वामन प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने वक्रोक्ति को लक्षणा का पर्याय मानते हुए इसे अर्थालंकारों में स्थान दिया तथा लक्षणा को सादृश्य निबन्धना अर्थात् गुणयोग से होने वाली गौणी । तथा सादृश्य निबन्धना लक्षणा" शब्दा के रूप में विधा प्रकल्पित कर लिया । इनसे पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी ने भी एक स्थल पर " लक्ष्यो" क्रिया का प्रयोग किया है। जिससे उन्हें लक्षणा शब्द शक्ति विषयक ज्ञान का आभास होता है।

आनन्दवर्द्धन से पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रंथों में ऐसे अनेक स्थल उपलब्ध हैं जिनसे प्रतीत होता है कि अभिधा आदि शब्दशक्तियों की सम्पूर्ण प्रक्रिया एवं सूक्ष्म विवेचना से भी ही वे परिचित न हों पर इनके बाह्य रूप से ये अवश्य अवगत थे ।

1- अर्थः पुनरभिधावानु प्रवृत्तते यस्य वाचकः शब्दः ।

तस्य भवन्ति द्रव्यगुणः क्रिया जातिरिति भेदाः ।।

-- काव्यालंकार 7/1

2- तत्र सादृश्य लक्षणा वक्रोक्ति रसाविति.

काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, पृ० 235

ध्वनि शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र में जिन विविध पाँच¹ अर्थों में किया गया है उनमें से दो अर्थ हैं-- व्यंजना शब्द शक्ति और व्यंग्यार्थ । ध्वनि के प्रवर्तक आनन्दवर्धन से पूर्व कवि किसी भी आचार्य ने ध्वनि, व्यंजना और व्यंग्यार्थ में से किसी भी शब्द का अपने ग्रंथों में प्रयोग नहीं किया तथापि उनके विभिन्न स्थलों से ज्ञात होता है कि वे " ध्वनि " शब्द से न तभी " ध्वनि तत्त्व " से अवश्य अवगत थे । अलंकारवादी आचार्यों भामह, दण्डी और उद्दष्ट ने रत्नवट, प्रेमत्वट, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकारों में " रत्न ध्वनि " को स्पष्टतः समाविष्ट किया ही है, साथ ही कुछ अन्य अलंकारों के लक्षणों में ध्वनि के मूलभूत तत्त्व एवं अर्थ से अन्य अर्थ की प्रतीति का समावेश करके उन्होंने ध्वनि अथवा व्यंजना से परिचिति दिखायी है । उदाहरणार्थ आचार्य भामह ने वृत्तिवस्तुमा अलंकार के लक्षण में " गुण साम्यप्रतीति " के अन्तर्गत विशेषण साम्य के आधार पर अन्य अर्थ की " गम्यता " को समासोक्ति एवं दूसरे प्रकार के कथन को पर्यायोक्ति नाम से उच्चरित किया है।²

भामह के समान आचार्य दण्डी ने भी पर्यायोक्ति के स्वरूप को प्रकारान्तर कथन के अन्तर्गत स्वीकार किया है।³ पर्यायोक्ति अलंकार का उद्दष्ट सम्मत लक्षण शुद्ध स्व से व्यंजना के स्वस्य का परिचायक है।⁴

1- नाट, स्फोट, व्यंजनाशक्ति, व्यंग्यार्थ, ध्वनि प्रधान वाच ।

2- काव्यालंकार- भामह, 2/34, 79, 3/8

3- काव्यादर्श, 2/189, 2/95

4- पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।

वाच्यवाचक वृत्तिभ्यां, शून्येनाद्यगमात्मना ।।

- काव्यालंकार तार संग्रह, 5/6

रघुपक के मतानुसार रूद्रट के अलंकारों के लक्षणीयस्थापन में भी व्यंजना शाब्दशक्ति के दर्शन होते हैं। रघुपक और उनके टीकाकार जयरथ ने रूद्रट सम्मत भाव अलंकार का एक प्रकार " प्रधान व्यंग्य" और दूसरा प्रकार "अप्रधान व्यंग्य" स्वीकार किया है।

इस प्रकार आनंदवर्धन ने पूर्व ध्वनि व्यंजना के तात्त्व विभिन्न अलंकारों में उपलब्ध हो जाते हैं। परन्तु आनंदवर्धन ने ध्वनि को महाविषयीभूत तात्त्व स्वीकार करते हुए अलंकार को ही ध्वनि से सम्बद्ध कर दिया।¹ आनंदवर्धन को ध्वनि व्यंजनाशक्ति जन्य व्यंग्यार्थ नामक काव्यतात्त्व के प्रवर्तक होने का भ्रम दिया जाता है, किंतु उन्होंने कई बार यह उल्लिखित किया है कि उ उनके समकालीन अथवा पूर्ववर्ती आचार्यों ने ध्वनि और उसके भेदों का निरमण किया है।² इतना ही नहीं ध्वनि सिद्धान्त पर उनके समय में सम्भवतः इतनी अधिक चर्चा होती होगी कि इस सिद्धान्त के विरोधी भी उत्पन्न हो गये जिन्का खण्डन आनंदवर्धन ने अपने ग्रंथ में किया है। वे विरोधी थे आभाववादी भाक्त और अलक्षणीयतावादी³ इस प्रकार काव्यशास्त्र में तीनों शाब्दशक्तियों का प्रतिपादन स्पष्टतः अथवा प्रकारांतर से होता रहा। आनंदवर्धन के परवर्ती सभी ध्वनिवादी आचार्यों ने इसी अपनी सहमति प्रकट की है और इसकी पुष्टि आचार्य जगन्ननाथ, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ के विचारों से स्पष्ट हो सकती है।

1- ध्वन्यालोक- ध्वनि प्रकरण। चतुर्थ अध्याय, ध्वनि विरोधी आचार्य

2- ध्वन्यालोक- चतुर्थ अध्याय

3- तस्याभावं जगद्वरे भावतमाहुस्तमन्ये ।

केचिद् वाचां स्थितम विषये तत्त्वभ्रुवुस्तदीयम् ॥

ध्वन्यालोक-- 1/1

अभिन्नगुप्त

आनंदवर्धन के पश्चात् अभिन्नगुप्त ने "ध्वन्यालोक" की लीघन नाम्नी व्याख्या की रचना कर ध्वनि संबंधी समस्त भांतियों का निराकरण कर उसकी महत्ता प्रतिष्ठित की। उन्होंने भट्टनाथ के ध्वनि विरोधी तर्कों का इस प्रकार खंडन किया, जिससे कि ध्वनितिदास के ऊपर लगाये गये तारे आक्षेपों का उन्मूलन हो गया और ध्वनि विरोधी परवर्ती आचार्यों के मतव्य भी उन्हीं तर्कों के आधार पर निर्मूल कर दिये गये। उन्होंने रस और ध्वनि के बीच अंतः संबंध स्थापित कर रस के कारण ही ध्वनि को महत्त्व दिया। और यह विचार व्यक्त किया कि व्यंजना व्यापार के द्वारा ही रस की सिद्धि संभव है। उन्होंने बताया कि रसभाव आदि का बोध व्यंग्य द्वारा होता है और रस का रहस्योद्घाटन व्यंजनावृत्ति द्वारा ही हो सकता है।

आचार्य अभिन्न गुप्त ने आनंदवर्धन की भांति 5। शुद्ध भेदों का निश्चय न कर 35 प्रकारों की ही परिगणना की है तथा गुणीभूतव्यंग्य के भी उतने ही 135। प्रकारों का उल्लेख किया है। ये अलंकारों का एक भेद मानते हैं और इस प्रकार उनके भेदों की संख्या 35 जमा 35 जमा 1 = 71 हो जाती है। इन भेदों की संसृष्टि तथा संकर दिखलाने में। संकर के तीन एवं संसृष्टि का एक। चार से गुणा करने पर भेदों की कुल संख्या 284 हो जाती है। अभिन्न ने अलंकार की अनेकता को देखकर अलंकारिरसव्यभिचनध्वनि का एक ही भेद स्वीकार किया है। इन भेदों में। संकीर्ण भेद। में 35 शुद्ध भेदों की गणना करने पर 1. $284 \times 35 = 9940$ । इनका गुणफल 9940 हो जाता है।

आचार्य विश्वनाथ रसवादी होते हुए भी ध्वनिमत के प्रबल समर्थक हैं। उन्होंने साहित्यदर्पण के वृत्त परिच्छेद में ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का विस्तृत विवेचन कर व्यंग्यपरिच्छेद में व्यंजना की स्थापना की है। उन ध्वनि निरूपण पर मम्मट के विचारों का पूर्ण प्रभाव है और वे उनके समान ही ध्वनि के शुद्ध भेदों की संख्या 5 मानते हैं। उन्होंने ध्वनि के स्वल्प का विवेचन करते हुए बताया है कि जिसमें वाच्यार्थ की ओर व्यंग्य का रूप अधिक सुंदर होता है, उसे ध्वनि कहते हैं। ध्वनि का यह लक्षण अत्यंत सरल और स्पष्ट है।¹

विश्वनाथ रस की काव्य की आत्मा मानकर भी ध्वनि एवं व्यंजना की महत्ता प्रतिपादित करते हैं। व्यंजना के प्रतिपादन में उन्होंने मम्मट के विचारों को अपनाया है। रसानुभव के लिए वे व्यंजना की अनिवार्य मान्यता को स्वीकार कर कहते हैं कि अभिधा तथा लक्षणा से रसोदयोध तो संभव ही नहीं है, क्योंकि दोनों ही वृत्तियाँ प्रत्यक्षादि अनुभव के पूर्व सिद्ध पदार्थों की प्रतीति कराती हैं, पर रस तो अनुभव के पूर्व रहता ही नहीं। लक्षणा द्वारा रसानुभव इसलिये भी संभव नहीं है, क्योंकि उसमें मुख्यार्थबाधादित्वस्य हेतु का होना आवश्यक रहता है, जब कि रस-रूप काव्यार्थ में मुख्यार्थबाधादि का प्रश्न ही नहीं उठता। वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की भिन्नता प्रदर्शित कर उन्होंने आठ कारणी- बोद्धा, संख्या, स्वल्प, काल, आश्रय, निमित्त, कार्य, प्रतीति का उल्लेख किया है।

1- वाच्यार्थविशेषिनि ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तममं व्यङ्ग्ये -

पंडितराज ज्ञाननाथ

पंडितराज ने अपनी प्रथम भेदा तथा प्रौढ़ विवेचन के द्वारा ध्वनितिद्धान्त को नया रूप प्रदान किया। उन्होंने आनंदवर्धन तथा अभिनवगुप्त के मत का अनुकरण न कर कतिपय स्वतंत्र विचार भी व्यक्त किये हैं, जिसे ध्वनितिद्धान्त को गति मिली है। उन्होंने ध्वनि के अनेक अनावश्यक भेदों को अमान्य घोषित कर उसे अधिक व्यावहारिक बनाया है। वे रसादि ध्वनि को अतल्ल यक्रमहीन मानकर तल्ल यक्रम भी स्वीकार करते हैं और इस प्रकार ध्वनि के परंपरागत विचार में संशोधन करते हैं उन्होंने ध्वनि के भेदीकरण में पूर्ववर्ती आचार्यों के अतिवाद की प्रवृत्ति को उपेक्षणीय समझकर उसके प्रति अल्पि का भाव प्रदर्शित किया है। उन्होंने लक्षणात्मक ध्वनियों को तल्ल यक्रम ध्वनियों में ही रखा है और अभियामूलक वस्तु तथा अलंकार और लक्षणात्मक दोनों भेदों को एक ही वर्ग में स्थान दिया है।

दार्शनिकों द्वारा मान्य शक्तियाँ

कुमारिलमतानुयायी मीमांसिक अभिधा लक्षणा व तात्पर्य वृत्ति को मानते हैं- व्यंजना इन्हें मान्य नहीं है। वैयर्थिक शक्ति। अभिधा। लक्षणा व अनुमान तीन शक्तियाँ मानते हैं। ये भी व्यंजना को नहीं मानते। इनके मतानुसार अनुमान से ही व्यंजना की कार्य सिद्धि हो जाती है। वैयर्थकरण अभिधा के स्थान पर प्रसिद्ध शक्ति व अतिद्विशक्ति। अतिद्वि अभिधा। को मानते हैं। लक्षणा का अन्तर्भाव अतिद्वि शक्ति के अन्तर्गत हो जाता है। जिसे अन्य आचार्य लक्षणा कहते हैं, वैयर्थकरण उसे अतिद्वि अभिधा या अतिद्वि शक्ति

कहते हैं जो केवल शब्दों का भेद मात्र है।¹

इस प्रकार प्राचीन वैयाकरण कौण्डभट्ट आदि अभिधा और व्यंजना दो ही शक्ति मानते हैं।²

नवधियाकरण नागेश अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीनों शक्तियों को मानते हैं।³ लक्षणा में ही व्यंजना को गतार्थ करना नागेश को मान्य नहीं है। इसी प्रकार ते आलंकारिक इन्हीं तीनों शक्तियों को मानते घले आ रहे हैं।

शक्ति के तीन प्रकार मानने वाले आचार्य

नागेश शक्ति के तीन प्रकार मानते हैं -- रुढ़ि, योग और योगरुढ़ि⁴ उनके अनुसार जिसमें शास्त्र कल्पित अवयवों का अर्थ नहीं हो सके किंतु समुदाय का अर्थ हो सके वह रुढ़ि शक्ति कही जाती है यथा मणि, नूपुर। इन दोनों में अवयवों का अर्थ कुछ नहीं होता है।⁵ जिसमें शास्त्र कल्पित

1- शब्द बोध विमर्श- बदरीनाथ सिंह, पृ० 261

2- वृत्तिस्त्रिधा- शक्तिर्लक्षणा व्यंजना च, तत्र लक्षणायाः शब्देष्व् व्यतार्तत्वं तस्य च व्यंजना निव्यणीया।

-- वैयाकरण भूषण तार तटीकः सं० वात्सुक्यन पंथीलीः
पृ० 346

3- ता च वृत्तिस्त्रिधाशक्तिर्लक्षणा व्यंजना च।

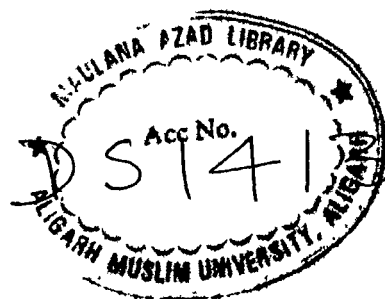
- परमलघु मंजूषा, पृ० 13

4- ता च शक्तिस्त्रिधा, रुढिर्योगी, योगरुद्रिश्च।

परमलघुमंजूषा, पृ० 54

5- शास्त्र कल्पिता वयवार्थ मानाभावे समुदायार्थ निरूपित शक्ती रुढ़िः यथा मणि नूपुरादौ। पृ० 30, परमलघुमंजूषा।

अवयवों का अर्थ हो सके अर्थात् जिसमें प्रकृति प्रत्यय के योग से अवयवों का भी अर्थ हो सके अर्थात् वह योग शक्ति है यथा- पायक आदि । यहाँ पकाने वाला अर्थ पच प्रकृति से " ऋषुषु " प्रत्यय के योग बल से ही निकलता है । यहाँ अवयवों का अर्थ स्पष्टतया मान्यम बढ़ता है ।¹ जो शास्त्र कल्पित अवयवों के अर्थ के साथ विशेष अर्थ को बता सके वह योगरूढि कहलाती है यथा पङ्कज । यहाँ पङ्क.।कीचड़। में पैदा होने वाला- यह एक सामान्य अर्थ है इसके साथ ही विशेष अर्थ कमल का प्रत्यायन योग रूढि द्वारा होता है ।²



1- शास्त्र कल्पितावयवार्थ निरूपिताशक्तियोगः । यथा-पायकादौ।

- परमलघु मञ्जूषा, पृ० ३०

2- शास्त्र कल्पितावयवार्थान्वित विशेष्यभूतार्थ निरूपिताशक्तियोग रूढिः । यथा पङ्कजदे । तत्र पङ्कजनिकर्तृपदमिति बोध्यात्,

वही, पृ० ३०

भैयालियों के अनुसार शक्ति के चार प्रकार =====

भैयालियों ने चार प्रकार के पदों की सत्ता स्वीकार की है। पद पद से शक्ति विभिन्न को मानते हैं। पद कहीं योगिक हैं, कहीं स्त, कहीं योगस्त और कहीं योगिक स्त।¹

- 1क। योगिक शब्द -- योगिक शब्द वे हैं, जो अवयव मात्र की शक्ति से ही अर्थ के प्रत्यायक होते हैं²। यथा- पायक, पाऊ आदि।
- 1ख। स्तशब्द-- स्त शब्द वे हैं, जो अवयव शक्ति के बिना केवल समुदाय शक्ति से अर्थ के प्रत्यायक होते हैं यथा- गोमण्डल आदि³। किन् शब्दों के विग्रह वाक्य से अन्य अर्थ होते हैं और वृत्ति में अन्य, वे रुढि शब्द कहते हैं। उपर्युक्त गोमण्डल में * गो पद की अवयव शक्ति⁴ जो अन्ति में है और मण्डल पद की अवयव शक्ति नूयधिरोधक कुण्डलाकार में है एवं यहाँ समुदाय शक्ति से अर्थ का बोध होता है। अतः अवयव शक्ति की कुछ आवश्यकता नहीं।
- 1ग। योग स्त शब्द -- योगस्त शब्द वे कहलाते हैं जो अवयव शक्ति और समुदाय शक्ति दोनों के द्वारा एक अर्थ के प्रत्यायक माने जाते हैं यथा- पंकज आदि⁴। एक ही पंकज पद * पङ्क-गज्जयति इति पङ्कजः*

-
- 1- शक्त्येवमु, तद्यवतुर्विधम्- क्वचिद् योगिक, क्वचिद् स्तम्, क्वचिद् योगस्तम्, क्वचिद् योगिकस्तमिति ।--न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, पृ० 18
 - 2- यत्रावयवार्थं एवं कृत्यते तदयोगिकम् । यथा-पायकादिपदम् ।, वही, पृ० 18
 - 3- न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, पृ० 19
 - 4- यत्र तु अवयव शक्ति विषये समुदाय शक्तिरप्यस्ति तदयोगस्तम्, यथा- पंकजादिपदम् । न्याय सिद्धान्त मुक्तावली, पृ० 19

इत्याकारक अवयव शक्ति से पंचज से उत्पन्न होने वाली वस्तु को कहता है और समुदाय शक्ति से पशुत्वेन पंचज कमल का बोधक है ।

1. यौगिक रुढ़ि - यौगिक रूढ़ि शब्द वे कहे जाते हैं जो कभी रूढ़ियों की उपस्थापना करते हैं, कभी यौगिक अर्थ की अर्थात् जिससे अवयवार्थ तथा रूढ़ियों का स्वतंत्र रूप से बोध हो, वह यौगिक रूढ़ि शब्द है। यथा - उदभिद आदि । * उर्ध्वभिन्नतीति उदभिद* इस व्युत्पत्ति से अवयव शक्ति द्वारा तत्सुलभ । वृक्षमता आदि का बोधक है और समुदाय शक्ति से उदभिद नामक योग का भी बोधक है । इसी प्रकार मण्डप शब्द है ।

शक्ति और वृत्ति

साहित्यिकों तथा दार्शनिकों ने इन दो शब्दों का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में किया है । दर्शन ग्रंथों में जिसे दार्शनिकों ने वृत्ति शब्द से अभिहित किया, साहित्यिकों ने उसे वृत्ति, शक्ति आदि अनेक नामों से व्यवहृत किया । करण में * कित्तु* प्रत्यय होकर वृत्ति शब्द निष्पन्न होता है यथा- * वर्तते शब्दोऽर्थे अनया इति वृत्तिः ।

श्री निवासाचार्य ने वृत्ति शब्द से अभिधा और उपचार। लक्षणा को गृहीत किया है।¹

आचार्य विश्वनाथ ने वृत्ति के स्थान पर शक्ति शब्द का प्रयोग किया है तथा इस शक्ति शब्द से अभिधा लक्षणा व व्यंजना तीनों का ग्रहण किया गया है।² आलंकारिक केशव मिश्र ने अभिधा के लिए शक्ति

1- वृत्तिविधा अभिधीपचार भेदात् । व्यासपरिशुद्धि, पृ० 338

2- साहित्य-दर्पण, पृ० 70

शब्द का प्रयोग किया किंतु पदों की वृत्तियाँ अभिधा, लक्षणा व व्यंजना की ही माना।¹ एक ही वस्तु के गुण स्व एवं क्रिया स्व व्यापार के कारण शब्द शक्ति एवं शब्द वृत्ति दो नाम प्रचलित हो गये। "सरस्वती कण्ठाभरण" में लक्षणा के भेदों के लिए वृत्ति शब्द का प्रयोग पाया जाता है।²

त्रिवेणिका में आशाधर भट्ट "शक्त्यै इति शक्ति" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा शब्द साक्षात् तर्कित अर्थ का अभिधान करता है उसे शक्ति कहते हैं। "शक्ति" पद में शक् धातु से करण अर्थ में बाहुल्य कृत् कृत्तन प्रत्यय विहित है। क्योंकि धातु अनेकार्थकहोते हैं, अतः यहाँ शक् धातु का अर्थ साक्षात् अभिधान करना है।³ उनके मतानुसार शक्ति वृत्ति, व्यापार तथा क्रिया पर्याय शब्द हैं।⁴

इन शक्तियों के माध्यम से तीन प्रकार के अर्थों का बोध होता है। अर्थात् उनमें प्रथम अभिधा से प्रतीत अर्थ को शक्त्यर्थ, वाच्यार्थ, अभिधायार्थ तथा मुख्य अर्थ कहा जाता है। द्वितीय शक्ति लक्षणा से प्रतीत होने वाले अर्थ को लक्ष्यार्थ, लाक्षणिक अर्थ भाक्त तथा औपचारिक अर्थ कहा जाता है। इसी तरह तृतीय शक्ति व्यंजना से प्रकट होने वाले अर्थ का व्यंग्यार्थ, गम्यार्थ, प्रतीयमानार्थ तथा ध्वन्यार्थ अर्थ कहा जाता है। "त्रिवेणिका" ग्रंथ में कहा गया

1- अलंकार शौखर, निर्णय . . . , तागर, पृ० १

2- कान्तवृत्तिः अजहत्स्वार्थ... । सरस्वती कण्ठाभरण, पृ० 299

3- त्रिवेणिका, पृ० 2

4- वृत्तिः व्यापार । क्रिया घटितपर्याय शब्दाः ।

=====

तृतीय अध्याय- संस्कृत काव्यशास्त्र में शब्दशक्ति
लक्षण तथा शैलीशैली

अभिधा

तात्पर्य

लक्षणा

व्यञ्जना

=====

हे कि मूल अर्थ के नामकरण का भी यही अभिप्राय है कि इसमें वाचक शक्ति) स्वी गंगा, शक्ति स्वी, लक्ष्मी स्वी, यमुना एवं व्यंजनास्वी गूढ़ प्रभावशाली सरस्वती का विवेचन किया गया है । अतः यह त्रिवेणिका पद वाच्या है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में

शब्द शक्ति : लक्ष्य तथा भेदोपभेद
=====

जिस साधन या शक्ति के द्वारा शब्द के अर्थ का बोध होता है उसे शब्द शक्ति कहते हैं । इसका मुख्य कार्य अर्थावबोध है । अतः शब्दशक्ति को अर्थावबोधक व्यापार का मूल हेतु माना जा सकता है। दूसरे शब्दों में पद के साथ पदार्थ का सम्बन्ध शक्ति कहलाता है और वह इस शब्द में यह अर्थ जानना चाहिए इस रूप में होता है । प्राचीन भैयाणियों की दृष्टि में ईश्वरेच्छा द्वारा सकित ग्रहण होता है—^१ किन्तु नवीन भैयाणियों के मत में ईश्वरेच्छा और तदतिरिक्त मनुष्येच्छादि से सकितग्रह हो जाते हैं ।^२

शब्द-शक्ति भेद

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि शब्द की तीन शक्तिय होती है- अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना । जो तीन प्रकार के अर्थों को वाच्य लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ को बताती हैं । एक " तात्पर्य " नामक चौथी शक्ति भी है जिसका संबंध वाक्य से होता है अर्थात् ^{वाक्य} वृत्ति वाक्य की शक्ति मानी जाती है।

1- शक्तिभक्तियव्यक्तिर्गङ्गायमुनागूढनिर्झराः ।

प्रवाहवत्यः संत्यक्त यन्तदेवा त्रिवेणिका ।-- त्रिवेणिका, पृ० २

2- न्याय सिद्धान्त मुक्तावली, पृ० २०-२१

3- परमलघु मञ्जूषा, पृ० १३

सर्वप्रथम अभिधा का परिचय दिया जा रहा है जो इस प्रकार है-

अभिधा शब्द शक्ति

=====

अभिधा शब्द का व्यापार है, जिसे मुख्य व्यापार कहा जा ता है । जिस तरह अंगों में सर्वप्रथम मुखदृष्टिगोचर होता है, वैसे ही यही वह व्यापार है जो अन्य व्यापारों की ओक्षा पहले सामने आता है। इसी कारण मुख के कु समान होने से इसे मुख्य कहा जाता है ।¹ अभिधा शक्ति के द्वारा प्रतीत वाच्यार्थ का महत्व काव्य में ही नहीं, अन्य सभी शास्त्रों में तथा लौकिक व्यवहार में भी है। सामान्यतया लौकिक व्यवहार में इसका बड़ा महत्व है, यह अनुभव गम्य है ही । लक्षणा तथा व्यञ्जनादि अन्य शक्तियों की आधार भित्ति अभिधा ही है । हम वाच्यार्थ ज्ञान के बाद ही लक्ष्यार्थ तथा व्यञ्ज्यार्थ तक पहुँचते हैं, अतः लक्षणा अदि के बीज में अभिधा अवश्य रहती है।²

अभिधा ही प्रथम एवं मुख्यार्थ विवक्षिणी शक्ति है । प्रायः देखा जाता है कि कोई भी शब्द सर्वप्रथम अपने निषेधित सैकतित अर्थ की प्रतीति कराता है । शब्द का यह निषेधित सैकतित अर्थ वाच्यार्थ, शब्दार्थ, अभिधेयार्थ या मुख्यार्थ कहलाता है ।³ इस प्रकार मुख्यार्थ की प्रतीति कराने

- 1- अध्ययानेन यत्र सैकतः क्रियते स मुखमिदं हस्ताद्यवयवैः यो अर्थान्तरेभ्यः प्रथमं प्रतीयत इति मुख्यः ।-काव्यानुशासन-श्री विजयलक्ष्मण्य सूरेश्वर, पृष्ठ- 176
- 2- श्रीलाराकार व्यास-ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धान्त भाग-1, पृ० 109
- 3- प्रतिविषयभेदा अर्थात्प्रतिविधाः । तत्र आपः शब्दो, वाच्योऽभिधेयो मुख्यार्थश्चेत्युच्यते ।- शिवेन्द्रिका, पृ० 5

बाना व्यापार अभिधा कहा जाता है । मम्मट के अनुसार जो शब्द साक्षात्सकैतित अर्थ को बताता है, वह वाचक कहा जाता है और इससे जिस अर्थ का बोध होता है, वह मुख्य अर्थ होने से वाच्यार्थ कहलाता है तथा उस वाच्यार्थ को बताने वाली शब्द की शक्ति अभिधा नाम से अभिहित की जाती है । अन्य आचार्यों ने भी मम्मट विरचित लक्षणा के आलोक में अपनी वृत्तियों में अभिधा के लक्षण प्रयुक्त किये हैं।¹ आचार्य विश्वनाथ ने बताया कि प्रसिद्ध अर्थ अस्वा साक्षात् सकैतित अर्थ के बोधक व्यापारः । के मूल कारण को अभिधा शब्द शक्ति कहते हैं ।²

1- 1अ। साक्षात्सकैतितं यौद्धर्ममभिधनेन स वाचकः ।

त मुहयौद्धर्मस्तत्र मुख्यो, व्यापारोऽस्याभिधीयते ॥

-- काट्यकाश--2/7-8, पृ० 42, 50.

2अ। अर्थमव्यवधानेन तदुपगन्ती मुख्यार्तिनी ।

मुख्यार्थं वृत्तिर्बदन्त्येनामभिधिति विवक्षितः ॥

--साहित्य मीमांसा, पृ० 2

3स। यस्मिन् व्याकरणमात्रेण सहजं यत् प्रतीयते ।

तस्य तत्र तु या वृत्तिः साभिधा लक्षणा पुनः ।

-- अलंकार कोस्तुभ, पृ० 39

4द। यदा हि शब्दः साक्षात् सकैतितमर्थं बोधयति

तदा सा अभिधाशक्तिः कथ्यते । त एव तयोच्यमानोऽर्थो

वाच्यार्थः कथ्यते । अभिधाविमर्शः-- योगेश्वर दत्त शर्मा, पृ० 33

2- तत्र सकैतितार्थस्य बोधनादङ्गिमा अभिधा ।

-- साहित्यदर्पण - 2. 4

आचार्य पंडितराज ज्ञाननाथ ने शब्द और अर्थ के परस्पर संबंध को अभिधा नाम से सम्बोधित किया और उन्होंने यह भी बताया कि परस्पर शब्द का अर्थगत और अर्थ का शब्दगत रूप भी कहा जा सकता है।¹

इस शक्ति के द्वारा भाषा के सामान्य प्रयुक्त अर्थ की प्रतीति होती है अर्थात् उसका ज्ञान होता है। आचार्यों ने इसे शब्द की प्रथमाया अग्रिमा शक्ति के नाम से पुकारा है। यह शब्द के मुख्यार्थ को बताती है। किसी शब्द के प्रवण मात्र से अविलंब उसका अर्थ ज्ञान हो या अर्थविबोध हो जाय तो वही मुख्य अर्थ होता है और जिस वृत्ति या व्यापार द्वारा मुख्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे अभिधा शक्ति कहते हैं। प्रत्येक शब्द का एक सुनिश्चित अर्थ होता है और यह अर्थ अभिधा व्यापार द्वारा प्रतीत या अवगत होता है। किसी शब्द विशेष का जो अर्थ "कोश" या शब्द-कोश" में लिखित रहता है, वही अर्थ अभिधा शक्ति द्वारा जाना जाता है। अतः शब्द के मुख्य अर्थ को बतलाने के कारण इसे प्रथमाशक्ति कहते हैं। उदाहरण के लिए "गाय आ रही है" वाक्य में गाय कहने से शीघ्र ही उसका अर्थ "तात्नादिमानुष पशु-विशेष" का या उस पशु का हो जाता है जिसके गले में गल-कम्बल है। अतः "गी" शब्द में अभिधा व्यापार हुआ और शब्द के प्रवणमात्र से ही उसका लोक प्रयुक्त अर्थ ज्ञात हुआ।² जिस शब्द का जो अर्थ कोश में रहता है उसे ही मुख्यार्थ कहते हैं। शब्द के सुनते ही उससे निकलने वाला अर्थ मुख्य अर्थ है।

1- शक्त्यारब्धोद्घेत्य शब्दगतः, शब्दस्याध्यासो वा संबंध
विशेषोऽभिधा - रत्नगंधर। द्वितीय आनन।, पृ० 123

2- एवमिदं तद्विदाय और उसके सिद्धान्त - डॉ० श्रीला शर्मा व्यास,
पृ० 101-102.

अभिधा शक्ति द्वारा जिन वाचक या शक्त शब्दों का अर्थ बोध होता है वे तीन प्रकार के होते हैं--1।। समूह शक्ति बोधक। समुदाय शक्ति बोधक । 2। अंगशक्ति बोधक । केवलावय्य शक्ति बोधक । एवं 3। समूहसंगमिलित शक्ति बोधक । समुदायावय्य शक्ति बोधक। इन्हें रूढ़, यौगिकजीर यौगरूढ़ भी कहा जाता है। अतः इस आधार पर अभिधा शक्ति के तीन भेद हैं जो इस प्रकार हैं !

1अ। रूढ़ि शक्ति

ऐसे शब्दों को रूढ़ि कहा जाता है जिसकी व्युत्पत्ति नहीं होती और वे समुदाय शक्ति बोधक होते हैं । इससे शब्द की अखण्ड शक्ति के द्वारा अर्थ को बोध होता है ।² जैसे पेड़, घीड़ा, मणि आदि । इन शब्दों के खण्ड नहीं हो सकते । ये अखण्ड रूप से ही अर्थावबोध कराते हैं ।³

रूढ़ शब्द के प्रकृति-प्रत्यय-रूप अवयवों का या तो कुछ अर्थ नहीं हो सकता या होने पर भी संगत प्रतीत नहीं हो सकता । जैसे उपर्युक्त उदाहरणों में से मणि शब्द को ही लिया जा सकता है । मणि शब्द में प्रकृति-प्रत्यय की निराधार कल्पना हो सकती है जो नहीं के बराबर है। दूसरा

1- तेषमभिधा त्रिविधा केवल समुदाय-शक्तिः

केवलावय्यशक्तिः, समुदायावय्यशक्तिसं- करण्येति ।-

-- रत्नगंगाधर, पृष्ठ 141

2- अखण्डशक्ति मात्रैकार्थं प्रतिपादकत्वं रूढ़िः -वृत्तित्वात्तिर्क, पृष्ठ 1

3- काव्यालोक, पृष्ठ 36

4- प्रकृति प्रत्ययार्थमन्येय शब्दबोधजनकः शब्दः रूढ़ः ।

-- शब्दकल्पद्रुम ।

शब्द जैसे मण्डप है । मण्डप शब्द की व्युत्पत्ति " मण्डप पिवर्ति " । जो मांड पीता है । हो सकती है, परन्तु कोई मण्डप मांड पीता है-
ऐसा नहीं देखा गया । इसी प्रकार हिन्दी के पीछा, घड़ा, पीछा आदि
शब्द हैं । इससे रुढ़ि में अण्ड शक्ति के अर्थ प्रतिपादन तथा प्रकृति
प्रत्ययार्थ की अनपेक्षा ही प्रधान है ।

।ख। योगिक शक्ति

दो अवयवों के योग से बने शब्द योगिक होते हैं । इनमें प्रकृति
और प्रत्यय के योग से शब्द का ज्ञान होता है योगिक में शब्दों का
अर्थ उनके अवयवों से जाना जाता है। इसमें शब्द के अवयव सार्थक होते हैं।
उदाहरण के लिए जैसे भूषति और पाचक शब्द हैं । " भूषति " यहाँ
भूः पृथ्वी, पतिः मालिक अर्थात् स्वामी । के दो टुकड़ों के अलग-अलग
अर्थ हैं परन्तु दोनों को मिला देने पर योगिक अर्थ राजा या जमींदार हो
जाता है । इसी प्रकार " पाचक " शब्द में पच का अर्थ पकाना और " अक " का
अर्थ करने वाला है । दोनों का सम्मिलित अर्थ " पकाने वाला " होता है।
इसी प्रकार के अन्य शब्द हैं -- पाठशाला, विद्यालय, मिठाईवाला आदि।
बिहारी का एक प्रसिद्ध उदाहरण है --

चिरजीवी जोरी जूरे, क्यों न सनेह गंभीर
को घटि है पुष्पानुजा ये हलधर के वीर ।

-- बिहारी सत्सई, बिहारी।

।- अवयवशक्तिमात्र - साक्षेर्ल पदस्यैकार्थं प्रतिपादकत्वं योगः ।

-- वृत्ति वार्तिक, पृ० 2

इस उदाहरण में बुद्धिमानुष और हलधर दोनों ही शब्द योगिक हैं ।

प्रथम का अर्थ राधा एवं द्वितीय का अर्थ क्लराम है ।

।स। योगरुद्धि शक्ति

कभी-कभी उक्त दोनों ही शक्तियाँ एक ही शब्द में काम करती देखी जाती हैं । इसे ही योगरुद्धि शक्ति है ।¹ पंकज, जालि, जलद, रत्नाकर आदि शब्द योगरुद्धि हैं जो योग रूढ़ अर्थ देते हैं और शक्ति को 'योगरुद्धि' कहा जाता है क्योंकि योगिक अर्थ रहते हुए भी इन शब्दों में रूढ़ अर्थ ही लिया जाता है। योग शक्ति आच्छादित हो जाती है । रुद्धि प्रधान होकर, विशिष्ट अर्थ ही देती है । 'पंकज' शब्द ऐसा ही योगरुद्धि शब्द है जो सभी पदार्थों का, जो कीचड़ में पैदा हों, । लीला, लीला आदि का बोध नहीं कराता प्रत्युत केवल कमल का ही बोध कराता है ।

• 'सरोज' शब्द भी ऐसा ही शब्द है ऐसे शब्द मूलतः योगिक होकर प्रयोगों में रूढ़ हो रहते हैं । इसी तरह 'गण नायक' शब्द केवल गणेश जी का बोधक है । अन्य किसी गणेश का नहीं । यहाँ 'गण' तथा नायक अपने पृथक् अर्थ भी रखते हैं परन्तु गणेश के लिए यह शब्द रूढ़ हो चुका है यथा-

जहिं सुमिरत तिथि हो, गन नायक करिषर घटन ।

। गोस्वामी तुलसीदास।

।- अथ यत्तमुदायोभय- शक्ति- सायेक्षमिकार्थं प्रतिपादकत्वं योग रुद्धिः ।

-- पृष्ठितवार्तिक, पृष्ठ 2

* रुद्रियोगापहारिणी* के सिद्धान्तानुसार योगरूढ़ शब्दों में रुद्रि द्वारा योग शक्ति नियन्त्रित हो जाती है । परन्तु कवि-प्रयोगों में कभी-कभी रुद्रि का आवरण क्षीण हो जाता है तो योगिक अर्थ का भी समस्तका दृश्य हो उठता है । उस दशा में काव्य उपयोगी अर्थः योगिक अर्थः की मधुर व्यंजना होती है -

जडता का पंकज बना दिया

तुमने मानवता का सरोज -- । पंत ।

उप्युक्त उदाहरण में पंकज* और *सरोज* पर्याय हैं, परन्तु कवि ने योगिक अर्थ की व्यंजना द्वारा पंकज की मलिनता और * सर * की निर्मलता का अर्थ व्यक्त किया है ।

योगिक रुद्रि शक्ति

यह रुद्रि, योग और योगरूद्रि के अतिरिक्त शक्त्युद्गार का चतुर्थ भेद है । योगिक और रूद्र दोनों ही अर्थों को यथा अवसर देने वाला शब्द योगिक-रूद्र कहा जाता है और उसकी शक्ति * योगिकरूद्रि * होती है। अभिप्राय यह है कि जो शब्द कहीं केवल योगिक अर्थ को लेकर प्रयुक्त होता है और कहीं योगिक अर्थ की कुछ भी संगति न होने पर केवल रुद्रि से प्रयुक्त होता हो वह योगिक रूद्र है। ^{अर्थात् इसका उदाहरण है। अर्थात् का अर्थ है - वनस्पति} अर्थात् इससे उद्भेदनकारी पेड़-पौधों का बोध होता है वैसे ही यह विशेषण का और वैसे ही सींग का भी । क्योंकि सींग भी तो कोड़कर ही निकलता है । * अश्वगन्धा* छुड़ताल को भी कहते हैं और औषधि विशेष । अश्वगन्धा को भी । यह शब्द छुड़ताल के अर्थ में

1.- * सिद्धान्त मुक्तावली शब्द छण्ड *

योगिक है और अतंगध के अर्थ में रूढ़ । इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी हैं-- गोपाल, भीम आदि । गोपाल कृष्ण के लिए रूढ़ है परन्तु गाय पावने वाले किसी के लिए भी योगिक रूप में आ सकता है । "भीम" शब्द भयानक अर्थ में योगिक और "पाण्डव" विशेष के अर्थ में रूढ़ है । योगरूढ़ और योगिक रूढ़ में महत्वपूर्ण भेद है । योगरूढ़ शब्द में योग से प्राप्त अर्थ रुढ़ि से सीमित होता है। ऐसा योगिक रूढ़ में नहीं होता । उसके योगिक अर्थ और रूढ़ अर्थ स्वतंत्र होते हैं ।

योगिक रूढ़ में शब्द जैसे कहीं योगिक और कहीं रूढ़ रहता है वैसे ही कहीं योगिक और अन्यत्र योगरूढ़ भी हो सकता है जैसे -

• कहीं अबलन को श्री हरण वारिवाह को संग ।

घर करती जहाँ बचला साथी समे कुटुम्ब ॥ ---- अनुवाद ।

यहाँ अबलन और वारिवाह योग शक्ति से मिलीं और पानी दोनों वाले कहार के बोधक है; पर योगरूढ़ शक्ति से स्त्रियों और भेड़ों को ही बताते हैं ।

अभिधा शब्द शक्ति के प्रत्य में तर्केश्वर तथा अभिधा का निर्विवादत्वं विषय पर प्रकाश डालना अपेक्षित है -

तर्केश्वर का विषय

अभिधा शक्ति से वाचक शब्दों के अर्थ का प्रत्यक्ष तर्क प्राप्त होता है अथवा वाचक शब्द के वाच्यार्थ का ज्ञान अभिधा व्यापार द्वारा होता है । साधारण तर्कित अर्थ को बतलाने वाला शब्द वाचक शब्द।

होता है।¹ जैसे गी कहने से उसका तत्काल अर्थ ज्ञात हो जाता है एक घोषाया- विशिष्ट पशु का । भारतीय साहित्यशास्त्र में सकेतग्रह के संबंध में भीतक्य नहीं है। साहित्यिकों, व्याकरणों, मीमांसकों एवं भैयाणिकों ने इस सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है और परस्पर विरोधी निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं । मीमांसक केवल जाति में ही सकेत मानते हैं तो व्याकरण जाति गुण, क्रिया एवं द्रव्य चारों में ही सकेतग्रह मानते हैं । भैयाणिक जाति विशिष्ट व्यक्ति में सकेतग्रह स्वीकार करते हैं और साहित्यशास्त्री व्याकरण का अनुगमन करता है। " गीशयलति" इस वाक्य में गाय शब्द से सम्पूर्ण गाय जाति का अर्थ नहीं लिया जा सकता । यहाँ गाय से विशेष का ही सकेत होता है, जाति का नहीं । यद्यपि गाय शब्द के श्रवण करने से जाति का भी ध्यान हो जाता है पर सकेत गाय विशेष का ही होता है । श्रोत्रों के अनुसार सकेत अघोह में होता है ।

सकेतार्थ विषयक मतमतान्तर उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा व एक वाक्य सेते हैं -- " गीशयलति " । यहाँ " गीः " पद से किसका बोध होता है ? गो व्यक्ति का या गो जाति का ? हमारा व्यवहार या तो प्रवृत्ति रूप होता है अथवा निवृत्ति रूप । हमारे इस व्यवहार में हमारा सम्बन्ध नित्य व्यक्ति से ही आता है, न कि जाति से । यदि मुझे दूध चाहिए तो मुझे " गो व्यक्ति के पास ही जाना होगा ।" यदि सींग का धक्का लगने से मैं दूर हटता हूँ तो गो व्यक्ति से न कि गो जाति से । इस प्रकार व्यवहार में हमारा सम्बन्ध नित्य गो व्यक्ति से ही आने के कारण शब्द का सकेत व्यक्ति में ही निहित होना उचित है ।

1- साक्षात्सकेतितं योडटमभिहितं न वाक्यः

इस प्रकार नव्य नैयायिकों का मुंतव्य है । उनके मतानुसार शब्द से साक्षात् बोध होता है व्यक्ति का ही, जाति का नहीं । जाति तो केवल उपलक्षण मात्र है ।

परन्तु इस मत को स्वीकारने में कई कठिनाइयाँ हैं । * तर्क का विषय व्यक्ति है* यह मानने में दो पर्याय हो सकते हैं । या तो वह तर्क गो जाति के सभी व्यक्तियों में से एक साथ रहेगा या एक ही व्यक्ति में रहेगा । यदि वह तर्क एक ही समय गो जाति के सभी व्यक्तियों में निहित हुआ तो गो शब्द के उच्चारण से वर्तमान, भूत और भविष्यकालीन सभी गो व्यक्तियाँ हमारे ज्ञान में उपस्थित होंगी और इसकी कोई सीमा न रहेगी । यह आनन्त्य नाम का दोष है और यदि तर्क एक ही व्यक्ति में है ऐसा मान लिया जाय तो एक व्यक्ति में निहित तर्क दूसरे व्यक्ति में नहीं रह सकेगा । किंतु यह अनुभव के विरुद्ध है। यह व्यभिचार नामक दोष है । इसके अतिरिक्त और भी एक आपत्ति उपस्थित होती है। * गोः* शुक्लचलो द्वितीयः * इसी वाक्य को लीजिए- इस वाक्य का अर्थ है- द्वितीय नामक तर्क क्षत जा रहा है ।* इस वाक्य में गोः शब्द जातिवाचक है, *शुक्लः* शब्द गुणवाचक है, *चलः* शब्द क्रिया का बोधक है, एवं द्वितीयः उस चेत का स्वामी द्वारा रखा हुआ नाम है। शब्दों का तर्क मात्र व्यक्ति में मानने से, उपर्युक्त वाक्य में सभी शब्दों के एक ही व्यक्ति का बोध होने के कारण वे शब्द पर्याय शब्द होंगे एवं जाति, गुण आदि विभाग का कोई अर्थ न रहेगा । अतः प्रवृत्ति निवृत्तित्व क्रिया के लिए व्यक्ति का होना आवश्यक होने पर भी शब्द का तर्क व्यक्ति में मानना इष्ट न होगा ।

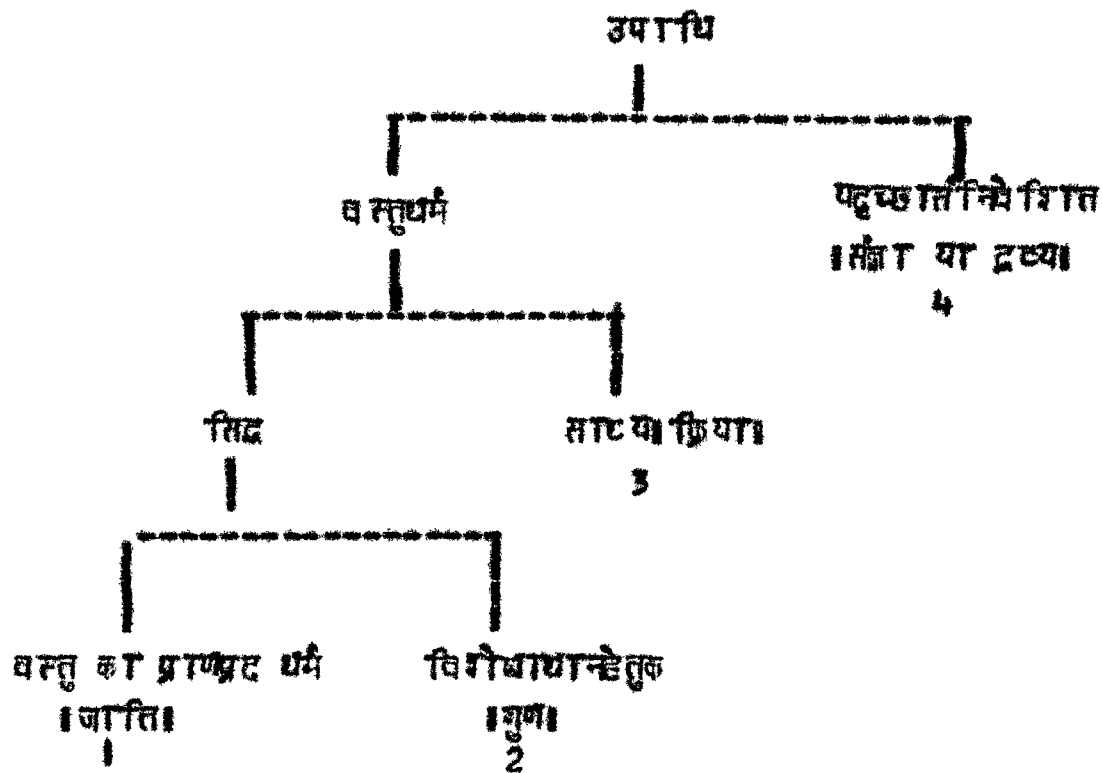
* यद्यप्यर्थे द्विधाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यस्तरेव
 त्वाप्यनन्त्याद व्यभिचारस्य तत्रतैतः कर्तुं न युज्यत इति * गो शृङ्गः
 पलो द्विधः* इत्यादीनाम् विषय विभागो न प्राप्नोतीति य तदुपाधायैव
 तैतः ।* ।

वैयाकरण और मीमांसक दोनों ही स्वीकार करते हैं कि शब्द का
 तैत व्यक्त में नहीं है । यहाँ यह प्रश्न स्वाभिक रूप से उठता है कि तैत
 व्यक्त में नहीं है तो किसमें है ? यहीं वैयाकरण और मीमांसकों के मत
 भिन्न-भिन्न हो जाते हैं । वैयाकरणों के अनुसार तैत उपाधि में अर्थात्
 व्यवच्छेदक धर्म में है, तो मीमांसक मानते हैं कि सब शब्द केवल जाति का
 ही निर्देश करते हैं । अतः वैयाकरण उपाधिसादी हैं तो मीमांसक जाति-
 सादी । नीचे प्रत्येक के मत को विस्तार से वर्ण के रूप में लिया गया है-

वैयाकरणों का मत

वैयाकरणों का कहना है कि शब्दों का तैत व्यक्त में न होकर
 व्यक्त की उपाधि में होता है । उपाधि का अन्वय किहीं वस्तुओं के
 ऐसे सामान्य धर्म से है जो उन्हें अन्य वस्तुओं से पृथक् करते हैं । उपाधि
 के शब्द भेद चार प्रकार के हैं जो इस प्रकार हैं -

1- काव्यप्रकाश। शालबोधिनी, पृ० 32-33



व्यक्ति में पाये जाने वाले धर्म के दो भेद होते हैं । कुछ धर्म व्यक्ति में मूल रूप से पाये जाते हैं उन्हें वस्तुधर्म कहते हैं । यह वस्तु में स्वतः सिद्ध होता है। परन्तु कुछ धर्म ऐसे होते हैं जिन्हें व्यक्ति पर हम अपनी इच्छानुसार आरोपित करते हैं । इसे ही यदुच्छातर्त्तनियोगात् धर्म कहा जाता है । यह दूसरा धर्म ही संज्ञा रूप होता है। वस्तु धर्म के भी दो भेद होते हैं । कुछ सिद्ध रूप अर्थात् उस व्यक्ति में पूर्व निर्मित ही रहते हैं । एवं कुछ धर्म साध्यमान अर्थात् उस व्यक्ति में ऐसे रहते हैं कि इनको अभी सिद्ध होना है । यह साध्यमान या साध्यधर्म ही क्रिया है। सिद्धधर्म भी दो प्रकार का होता है -

1. वस्तु का प्राणप्रद धर्म- जो वस्तु की व्यवहार की योग्यता देने वाला होता है अर्थात् वस्तु की योग्यता का निश्चिह्न होता है। यह धर्म ही जाति है।

121. विशेषाधान हेतुधर्म-- यह व्यवहार योग्य व्यक्ति की विशेषता को प्रकट करता है। यह धर्म ही गुण है। इनमें से " जाति " का धर्म व्यक्ति को व्यवहार योग्यता देता है। इसलिए इसे प्राण्युद कहा गया है ।¹

गौ व्यक्ति के विषय में " गौः " इस प्रकार का व्यवहार क्यों कर सकें। इस संदर्भ में वाक्यादीय नामक ग्रंथ में भट्टहरि ने कहा है कि गौ इसलिए गौ नहीं कि उसका आकार या रंग गौ का है, अपितु वह गोत्व जाति के संपर्क के कारण ही गौ होती है। इस प्रकार का ज्ञान उसका गोत्वधर्म ही सूचित करता है अतः उसके लिए गौ शब्द प्रयोग किया जाता है ।

फलतः जाति के धर्म द्वारा व्यक्ति की व्यवहार योग्यता का ज्ञान होता है तो गुण के धर्म उस व्यक्ति का " विशेष " व्यवहृत होता है। विशेष का अभिप्राय सजातीय पदार्थ को एक दूसरे से पृथक् करने वाले का है अर्थात् सजातीय व्यपत्तिक धर्म को विशेष कहते हैं । जाति धर्म वस्तु के स्वस्य में ही वर्तमान होने के कारण उसका वस्तु का । स्वव्याप्यक धर्म है और वस्तु में विशेषता उत्पन्न करने वाले धर्म को गुण कहते हैं । अभिप्राय यह कि जिस व्यक्ति का जातिधर्म सिद्ध हो चुका है उसको सजातीय धर्म से पृथक् करने वाले धर्म को गुण कहते हैं ।

वैयाकरणों की तीसरी उपाधि क्रिया रूप होती है जिसे साध्य कहते हैं तथा इसके पूर्वपर अंग क्रमिक होते हैं । यदृच्छा वस्तु की वस्तु

1- अर्थ य जाति स्वः शब्दार्थः प्राण्युदः इत्युच्यते । प्राण व्यवहार योग्यतां ददाति इति व्युत्पत्तिः ।

---- रत्नगंगाधर

उपाधि है, जो वस्तु का धर्म न होकर व्यवहार के लिए कल्पित संज्ञा मात्र होती है और जाति, गुण तथा क्रिया के भिन्न होती है । इससे यह सिद्ध होता है कि धियाकरणीं द्वारा जाति, गुण क्रिया तथा यदुच्छा वारों उपाधियों में सक्ति माना जाता है ।¹

मीमांसकों का मत
=====

मीमांसक केवल जाति में ही सक्तिग्रह मानते हैं । उनका कहना इस प्रकार है-- गो व्यक्ति परस्पर भिन्न तो हैं किंतु उन सब का प्राणग्रह सामान्य धर्म गौत्व जाति है। इसी तरह गाँव, हिम, दुग्ध आदि में जो शुक्ल गुण है वे परमार्थतः भिन्न हीं हैं किंतु उन सब का निर्देश हम " शुक्ल" इस एक ही सामान्य शब्द से करते हैं । इस तरह शुक्ल इस सामान्य शब्द के व्यवहार से होने वाला ज्ञान भी सामान्य ही है अतएव गुणवाचक शब्द भी जातिवाचक ही है । ऐसा ही क्रिया वाचक शब्दों के विषय में कहा जा सकता है । उदाहरण के लिए गुड़ और घावत आदि पदार्थों की पाक-क्रिया को लिया जा सकता है। यद्यपि उनकी पाक क्रिया में अन्तर होता है,

1.- उपाधिशब्द द्विविधः वस्तुधर्मो वस्तुयदुच्छा तन्निश्चेशितश्च ।
वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः सिद्धः साध्यश्च । सिद्धोऽपि द्विविधः
पदार्थस्य प्राणग्रहोविशेषाधान हेतुश्च । तत्राद्यो जातिः ।
उक्तं हि वाक्यदीये न हि गोः स्वस्येण गौर्नप्यगौः, गौर्याभिसम्बन्ध
न्यात्तु गोः इतिः द्वितीयो गुणः । शुक्लादिना हि तद्वत्तत्ताकं
वस्तु विशिष्टयै । साध्यः पूर्वापरिज्ञातव्यः क्रिया स्यः ।
द्वितीयादिशब्दानामन्तर्यबुद्धिर्निर्गह्यं तद्वत्तत्ताकं स्वस्यं वक्ता यदुच्छया
द्वितीयादिष्वर्थेऽप्याधित्वेन तन्निश्चेश्यत इति तौडयं तत्तात्पर्यो यदुच्छात्मक
इति ।

--- काव्यप्रकाश । वातलोधिनी । पृ० 33-35

पर उसमें पाकत्व जाति सामान्य है। समस्या है संज्ञा शब्दों के विषय में । परन्तु इसका उत्तर भी मीमांसकों ने दिया है। किसी व्यक्ति को दी हुई संज्ञा । उदाहरण के लिए द्वित्व । इस नाम का उपचारण बाल, वृद्ध, स्त्रियां, तीते आदि अपने-अपने ढंग से करते हैं । इससे ये शब्द वास्तव में तो भिन्न ही होते हैं, किंतु उनके द्वारा बोधित पदार्थ में द्वित्वत्व का धर्म सामान्य रूप में है ही । अर्थ है कि संज्ञा शब्द भी जाति का ही बोध कराते हैं । इस प्रकार सभी शब्द जाति के बोधक होने से मीमांसकों का कथन है कि शब्दों का संकेत जाति वाचक ही है, वैयाकरणों के अनुसार जात्यादिवाचक नहीं है।¹

मीमांसकों ने अपना जातिवाद संज्ञाओं के विषय में भी सिद्ध किया है परन्तु इसमें उन्होंने बहुत झींझातानी की है। वैयाकरणों का स्वीकृतिवाद मीमांसकों को स्वीकार न होने के कारण उन्हें इस प्रकार की युक्ति का अवलम्ब करना पड़ा ।

वैयाकरणों का विचार

वैयाकरणों के विचार से संकेतग्रहण न तो जाति में मान्य हो सकता है और न व्यक्ति में । अपितु वह " जाति विशिष्ट " व्यक्ति में ही हो

- 1.- हिम वयः शक्तिप्राप्तेषु परमार्थभिन्नोषु शुक्लादिष्वप्येवमन
शुक्ल इत्याद्यभिन्नाधान्यतयोत्पन्नितत्तत् शुक्लादि सामान्यम् ।
शुद्धतण्डुलादिपाकादिद्वेषमेव पाकत्वादिति । बालवृद्धशुकायदीरितेषु
द्वित्वादिसंज्ञेषु च प्रतिक्षणं भिन्नान्तेषु द्वित्वाद्यर्थेषु वा
द्वित्वत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्य-
मित्यन्ये ।

सकता है । न्याय सूत्र का कथन है कि पद का अर्थ व्यक्ति, आकृति तथा जाति सभी में है।¹ इसलिए केवल व्यक्ति या केवल जाति में शक्ति-ग्रह संभव न होकर जाति तथा आकृति से विशिष्ट व्यक्ति में माना जाना चाहिए । भैयाणिकों का कथन है कि केवल व्यक्ति में तर्कग्रह । शक्तिग्रह मानने पर " आनन्त्य " तथा " व्यभिचार " दोषों का समावेश हो जायेगा। यदि जाति में तर्क ग्रहण किया जाय तो व्यक्ति का ज्ञान नहीं हो सकता, अतः जाति विशिष्ट व्यक्ति में ही तर्कग्रह मानने योग्य है ।

बौद्धमतः अपोहवादः

बौद्धों के मत के अनुसार तर्कग्रह अन्यापोह रूप है। तर्क ग्रहण के² सम्बन्ध में बौद्धों का अपोहवाद अत्यधिक महत्वपूर्ण है। अपोह का अर्थ है-- अतदव्यावृत्ति या तदिभन्नभिन्नत्वं । इसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि किसी व्यक्ति में गाय शब्द कहा तो उससे केवल गाय को छोड़कर संसार की सभी वस्तुओं का निराकरण हो गया उसे ही अतदव्यावृत्ति कहा जाता है । इसमें उस वस्तु का निराकरण न कर उससे भिन्न सभी पदार्थों का निराकरण हो जाता है। चूंकि बौद्ध दर्शन क्षणिकगुरुवाद के आधार को ग्रहण कर चलता है अतः क्षणिकवादी मत के प्रतिकूल पहुँचने के कारण उन्हें जाति या सामान्य मान्य नहीं है। कारण यह है कि जाति या सामान्य जो पदार्थ की मान्यता देने पर उन्हें स्थिर पदार्थ का अस्तित्व मानने के लिए बाध्य होना पड़ेगा । उनके मतानुसार आत्मा क्षणिक तथा परिवर्तनशील है, स्थिर नहीं । अतः वे अपोह में ही तर्कग्रह स्वीकार करते हैं, जाति में नहीं।

1- कृति या व्यवक्त जातस्तु पदार्थः । -- न्यायसूत्र, 2, 2, 68

2- "तद्वान्योहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति" ।

-- काव्यप्रकाश बालबोधिनी, पृ० ३३

उपयुक्त विवरण से स्पष्ट है कि शब्द से ज्ञात होने वाले तर्कितार्थ के संदर्भ में शास्त्रकारों में मतभेद नहीं है। वैयाकरणों के अनुसार तर्कितार्थ के जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य ऐसे चार भेद हैं। मीमांसिकों के मतानुसार तर्कितार्थ का एक ही भेद "जाति" है। भैयाणिकों के अनुसार तर्कित जाति विशिष्ट व्यक्ति में निहित है तो बौद्ध मतानुसार वह अन्यापीड स्व है और कोई भैयाणिक तो उसे केवल व्यक्ति में ही निहित मानते हैं। इन भिन्न-भिन्न गतियों में से साहित्यशास्त्र, न्याय, मीमांसा तथा बौद्धमत को अस्वीकार कर वैयाकरणों के अनुसार जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा चारों में ही तर्कित-ग्रह को माना है।

अभिधा का निर्विवादत्व =====

प्रमाणों में जो स्थिति प्रत्यक्ष की है, शब्द-शक्तियों में वही स्थिति अभिधा की है। शब्द-शक्ति के संबंध में विचार करने वाला कदाचित ही कोई ऐसा विचारक हो, जिसने उसे स्वीकार न किया हो अथवा प्रधानता न दी हो। तात्पर्य यह है कि अभिधा शक्ति से सम्बद्ध प्रायः सभी प्रसंग व्याकरण ग्रंथों में उपलब्ध हैं अभिधायार्थ मुख्यतः लोक व्यवहार से ही जाना जाता है। तर्कितार्थ का घतुर्धा विशाजन महाभाष्यकार ने किया, जिसका समर्थन मम्मट ने भी किया।² भर्तृहरि ने शब्दों में अभिधान।वाचक।

1- लोकतोऽर्थाग्र्युक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः ।

--- महाभाष्य, पृ० 21

2- "गोः शुक्लश्वलोडित्यः" इत्यादौ घतुर्धमी शब्दानां प्रवृत्तिरिति महाभाष्यकारः ।

--- काव्यकाराग, पृ० 44

और अभिधिया वाच्य । का संबंध अभिधा द्वारा नियमबद्ध किया ।¹

अभिधामूला व्यञ्जना के प्रसंग में अनेकार्थक शब्दों के ऐकाग्र्य में नियंत्रित हो जाने के उपक्रम में मम्मट ने जिन संयोग आदि घोटक कारणों को गिनाया है, उसका मूल वाक्यपदीय है।² आधार्य मम्मट वाक्य पदीय में अप्रोक्षत सामर्थ्य, औचित्य, देशकाल, व्यक्ति, स्वर आदि छः कारणों को अधिक महत्त्व प्रदान किया है ।³

-
- 1- क्रिया व्यक्तेतः संबंधी दृष्टः करणकर्मणीः ।
अभिधानियमस्तस्मादभिधानाभिधेययोः ॥
- 2- संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥ 2. 315 वाक्यपदीय, पृ० 10।
- 3- सामर्थ्यं मीयिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यान्वच्छेदे विरोधं स्युति हेतवः ॥

तात्पर्य वृत्ति =====

काव्यशास्त्र में शब्द की अर्थबोधक शक्ति-- अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना इन प्रकार तिस्र्य मानी गयी है । जिनकी विवेचना प्रकरणशः की जायेगी है। इनके अतिरिक्त तात्पर्य नामक एक चौथी वृत्ति भी कतिपय मीमांसक और साहित्यिक मानते हैं । अभिधा आदि तीन वृत्तियाँ हैं- जिनसे शब्दों का अर्थ ज्ञात होता है, तो तात्पर्य वृत्ति से वाक्यों का अर्थ ज्ञात होता है । शब्दों का अपना स्वतंत्र अर्थ होता है । शब्दों से जब वाक्य बनता है तो वाक्य का भी एक स्वतन्त्र अर्थ होता है । यह वाक्यार्थ काव्यगत शब्दों के द्वारा ही सम्पन्न होता है । किंतु फिर भी वह उन शब्दार्थों से भिन्न तथा स्वतंत्र होता है । अर्थात् यह वाक्यार्थ केवल शब्द संबद्ध अभिधा आदि व्यापारों के द्वारा ज्ञात नहीं होता है। उसके लिए एक पृथक् शक्ति ही माननी होगी । वाक्य के अर्थ की बोधक यह शक्ति " तात्पर्यवृत्ति " है । वाक्य बोध के लिए आकांक्षायोग्यता एवं तन्निष्ठि के धर्म आवश्यक हैं । इन तीन धर्मों के योग से तात्पर्यवृत्ति होती है । आकांक्षा, योग्यता और तन्निष्ठि के कारण पदार्थों का समन्वय होने पर वाक्यार्थ प्रकट होता है, जो उन पदार्थों से पृथक् होता है एवं जिसका एक विशेष स्वस्य होता है ।

सारांश, तात्पर्यवृत्ति का कार्य है-- अभिधा आदि शब्दवृत्तियों के द्वारा जिनका बोध हुआ है ऐसे पद- अर्थों में पारस्परिक संबंध दर्शाकर तद्वारा वाक्यार्थ का बोध कराना अर्थात् वाक्यार्थ ही तात्पर्यार्थ है एवं वाक्य तात्पर्यार्थ

1- आकांक्षा-योग्यता- तन्निष्ठिणात् पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेष्यपुः आयदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुत्पत्तिः ।

काव्यप्रकाश - 2/6

का वाचक है¹। मीमांसा दर्शन में अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त तीसरी शक्ति भी मान्य है-- तात्पर्यवृत्ति। जो वाक्य के अर्थ, तात्पर्य का बोध कराती है। इस बारे में मीमांसिकों के दो मत हैं--।।। अभिहितान्वयाद । 2। अन्विताभिधान्वाद

वाक्यार्थ बोध -- अभिहितान्वयाद

इसके प्रवर्तक आचार्य कुमारिल भट्ट हैं। उनकी मान्यता है कि शब्द अपने अर्थ का अभिधायक वाचक है और अर्थ उससे अभिहित। उक्त, वाच्य। होता है।

भाट्टमीमांसिक, नैयायिक तथा वैशेषिक तात्पर्यवृत्ति स्वीकार करते हैं। उनका विचार इस प्रकार है। शब्दों से हमें शब्दशक्ति के द्वारा पद-अर्थों का ज्ञान होता है। शब्दों से ज्ञात हुए अभिहित पद अर्थों का अन्वय होता है और इस अन्वय के द्वारा हमें वाक्यार्थ ज्ञात होता है। इनके कथन को भली प्रकार से समझने के लिए एक उदाहरण लिया जा सकता है -- "घटं करोति" यह एक वाक्य है। मीमांसिकों के मत के अनुसार हर वाक्य का पर्यवसान क्रिया बोध में होता है, अर्थात् हर वाक्य किसी क्रिया के विषय में कुछ बताता है। अतः उपर्युक्त वाक्य का अर्थ हुआ घट स्व कर्म से संबद्ध क्रिया। घटाप्रकर्मत्वाश्रिता क्रिया। इस वाक्य में भी दो अंग हैं। "घटं" तथा "करोति"। "करोति" पर क्रिया का वाचक है। "घटं" पद के भी दो

1- तात्पर्यारब्धा वृत्तिमाहुः पदार्थान्वय बोधने।

तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तदबोधकम् ।। -- साहित्यदर्पण 2/20।

2- "अभिहितानां त्वत्त्ववृत्त्या प्रतिपादितानामर्थानाम् अन्वयः इति वदन्ति ये ते अभिहितान्वयादिनः।" इस प्रकार इनका अन्वयिक नामाभिधान है।

अंश हैं । " घट" यह प्रकृति और " अम्" प्रत्यय । इनमें घट शब्द से "घड़ा" नामक वस्तु का ज्ञान होता है । अम् प्रत्यय कर्मत्व का या कर्म का वाचक है । "घटम्" पद का अर्थ हुआ " घटाभित कर्मत्व" अथवा घटस्य कर्म । इस प्रकार "घटम्" अर्थात् "घटाभित कर्मत्व" एवम् " करोति" अर्थात् क्रिया ये दो अर्थ ज्ञात होने पर इन दोनों पदार्थों में । घटाभितकर्मत्व तथा क्रिया इन दोनों में । संबंध दर्शाने के लिए इस वाक्य में कोई शब्द नहीं है । उन-उन पदों के उन-उन अर्थों का ज्ञान हमें अभिधावृत्ति के द्वारा हुआ । यहाँ अभिधा का काम समाप्त हुआ । फिर यह संबंध कैसे ज्ञात होगा ? अभिहितान्वयादियों का कहना है कि यह संबंध " तात्पर्य " नामक स्वतन्त्र वृत्ति से ज्ञात होता है । यह तात्पर्य वृत्ति योग्यता, आकृष्टा एवं संनिधि के द्वारा प्रवृत्त होती है तथा पदों के द्वारा बोधित पदार्थों में जो सम्बन्ध है उसका बोध कराती है । तात्पर्य वृत्ति से बोधित होने वाला यह अर्थ "तात्पर्याय्य" है एवं वाक्य इस तात्पर्याय्य का बोधक होता है ।

अभिहितान्वयाद की दो बातें विशेषरूप से द्रष्टव्य हैं । पहली यह कि इनके मत में पदों के द्वारा केवल जाति का बोध होता है । " घटं करोति " इस वाक्य में "घटम्" पद के द्वारा यह घट या वह घट ऐसा बोध नहीं होता अपितु घटत्व जाति का बोध होता है । " करोति " पद के द्वारा भी सामान्य क्रिया का ही बोध होता है तात्पर्य वृत्ति के द्वारा इन सामान्य अर्थों में सम्बन्ध खतलाया जाता है ।

1.- अभिधायाः एकैकपदार्थबोधन विरमात् वाक्यार्थस्य पदार्थान्वयस्य बोधिका तात्पर्य नाम वृत्तिः । तदर्थस्य तात्पर्यार्थः । तद बोधकं वाक्यम् । इति अभिहितान्वयादिनां मतम् ।--

साहित्यदर्पण 2/20
वृत्ति ।।

दूसरी बात यह कि तात्पर्यवृत्ति पदार्थों में सम्बन्ध दर्शाती है, पदों में पारस्परिक सम्बन्ध नहीं दर्शाती । " घट" प्रकृति और " अमृ" प्रत्यय इन दोनों में आश्रयाश्रयि भाव सम्बन्ध है । यह सम्बन्ध तात्पर्यवृत्ति से ज्ञात नहीं होता अपितु प्रकृति और प्रत्यय की समीपता से ही ध्यान में आता है ।

वाक्यार्थबोध : अन्विताभिधानाद

इसके प्रवर्तक आचार्य प्रभाकर हैं । आचार्य प्रभाकर के मतानुसार वाक्यार्थ ही वाक्यार्थ है² । वे यह मानकर नहीं चलते कि कोई पद पहले अनन्वित पदार्थ का बोध करा देता है और फिर उन अन्यवहीन पदार्थों का अन्वय होता है । उनकी स्थापना है कि प्रत्येक पद अन्वित अर्थ का ही बोधक होता है -- अर्थात् अन्वय सहित अर्थ ही पद का वाच्य होता है । अतः अलग से अन्वय शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है ।

वस्तुतः स्पष्ट है कि अभिहितान्वयान्ताद मत के ठीक विपरीत मत यह प्रभाकर मीमांसकों का है। वे तात्पर्यवृत्ति को स्वीकार नहीं करते । उनका कथन इस प्रकार है-- हमारे ध्यान में शब्दों का अर्थ आता है तो स्वतंत्र रूप से नहीं आता, अतएव पहले पदार्थों का स्वतंत्र रूप में बोध तथा उसके अनन्तर उन पदार्थों में परस्पर अन्वय सम्झने के लिए तात्पर्यवृत्ति ऐसी प्रक्रिया मानना ठीक नहीं । हम पदार्थों का जो अर्थ समझते हैं वह अन्वित दशा में ही समझते

-
- 1- कुमारिल भट्ट और उनके अनुयायी तात्पर्यवादी हैं । उन्होंने अपने मत के लिए " तद्भूतानां क्रियाधीन समाध्यायः अर्थस्य तन्निमित्तत्वात्" 1।1-25। इस मीमांसा सूत्र के शब्द भाष्य पर आधारित है ।

हैं । अपने काम की पुष्टि के लिए वे वृद्ध व्यवहार के अनुभव का उदाहरण उपनि-
 श्रुत करते हैं । कोई वृद्ध किसी एक से कहता है कि " येन को मे जाओ " । वृद्ध
 का यह कथन पात्रक भी सुनता है। तब ही वह बालक देखता है कि वह एक
 किसी विशिष्ट स्थान पर प्राणी को ला रहा है। इस बात को देखकर बालक
 मन में यह समझता है कि वृद्ध के कहने का अर्थ वह जग को लाने की क्रिया है ।
 कुछ समय के बाद वृद्ध कहता है, " येन को मे जाओ, चीड़े को मे जाओ " । इन
 वाक्यों को भी वह बालक सुनता है एवं इन वाक्यों के अनुसार होने वाली क्रियाएँ
 भी उस बालक के समझ होती रहती हैं । वाक्य, वाक्य का एक-एक क्रिया
 एवं संबंध उसे इस प्रकार ज्ञात होता रहता है और उसी से उसे जल, चीड़ा आदि।
 पदार्थों का भी ज्ञान होता रहता है। किंतु यह ज्ञान अज्ञात पदार्थ बोध उसे केवल।
 सामान्य स्तर में होता है यह बात नहीं कि वृद्ध वृद्ध किसी क्रिया से संबंधित या
 अन्वित दशा में ही होता है। अब बात यह है कि किसी को भी किसी क्रिया
 में प्रवृत्त करना हो या उससे निवृत्त करना हो तो वाक्य का ही प्रयोग करना
 पड़ता है । देवता शब्दों से या पदों से वह प्रवृत्ति या निवृत्ति नहीं होती ।
 अतएव शब्दों का अर्थ जो हम समझते हैं वह स्वतंत्र रूप में शब्दों के द्वारा न
 समझकर, वाक्य में जो उनका प्रयोग एवं संबंध है उसी के द्वारा समझते हैं ।
 इसीलिए प्रभाकर का कथन है कि पदार्थ बोध अन्वित अवस्था में ही होता है ।
 पहले पदार्थ समझकर बाद में उसका अन्वय ज्ञात होता है, ऐसी बात नहीं ।
 अतएव अन्वयबोध के लिए तात्पर्यवृत्ति जानने का भी कोई कारण नहीं है ।²

- 1- अपरेत्थादुः सुदृष्ट्यकारादुः शब्दार्थ सम्बन्धावतामः । तप सुदृष्ट्यकारः
 प्रवृत्तिविवृत्तित्वः । प्रवृत्तिविवृत्तिता य विशिष्टार्थविवृत्तिः ।
 अतो विशिष्टार्थ एवार्थ पदानां सम्बन्धाव धृतिः । ततश्च विशिष्टार्थः ।
 पदार्थो न तु पदार्थानाम् वैशिष्ट्यम् । एवं च परस्परान्वितान्
 वाक्यार्थस्पर्तापन्नानां तत्तत्सामान्यच्छादितत्वे न गृहीत स्ववाचक
 सम्बन्धानां पदैः प्रत्यायनादन्विताभिधानामिति-अभिधावृत्तमातृका । ४-५।
 2- काव्यप्रकाश- पंचमोल्लास।

इन मीमांसकों को अन्विताभिधानवादी कहते हैं, क्योंकि इनका मत है वाक्य में अन्वित पदार्थों का ही शब्दों के द्वारा अभिधान होता है ।¹

इन दोनों का समुच्चय

“ अभिधावृत्तिमातृका ” में ब्रह्मसूत्र ने एवं “ शब्दव्यापार विचार ” में मम्मट ने इन दोनों मतों का समन्वय किया है और उसे तत्समुच्चय कहा है। इस समुच्चय का स्वल्प इस प्रकार है-“ पदों को अपना-अपना सामान्यभूत वाच्य अर्थ होता है । किंतु वाक्यों में पदार्थ परस्पर अन्वित ही होते हैं । इस प्रकार केवल पदों की अपेक्षा से अभिहितान्वयाद उत्पन्न होता है, तो वाक्य की अपेक्षा से अन्विताभिधानवाद उत्पन्न होता है ।²

1- अन्वितस्य अर्थान्तर संबद्धस्य अर्थस्य अभिधानं प्रतिपादनं शब्देन क्रियते इति ये वदन्ति ते अन्विताभिधान वादिनः ।

2- अन्येषां मते तु पदानां तत्तत्सामान्य भूतो वाच्योऽर्थः । वाक्यस्य तु परस्पराऽन्विताः पदार्था इति पदापेक्षया अभिहितान्वयः वाक्यापेक्षया तु अन्विताभिधानम् । एवं च तयोः अभिहितान्वयाऽन्विताभिधानयोः समुच्चयः इति । -- अभिधावृत्तिमातृका- पृष्ठ 41, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली

लक्षणा शाब्द शक्ति =====

जब वाक्य में कोई पद अपनी मुख्यवृत्ति अभिधा द्वारा विवक्षित अर्थ का बोध नहीं करा सकता, तब उसके लिए आचार्यों ने एक नये व्यापार की कल्पना की तथा उसे लक्षणा नाम से अभिविहित किया। अमुख्य या अलक्षित अर्थ का बोधन करने वाली शाब्द वृत्ति लक्षणा नाम से सर्वाधिक प्रचलित है और इस वृत्ति से सम्बन्धित शाब्द को लक्षक, लाक्षणिक, औपचारिक तथा भावत नाम से अभिविहित किया जाता है।¹

काव्य में लक्षणा शक्ति अनेक प्रकार से क्रियाशील रहती है, अतः लक्षणा का व्यापक महत्त्व है शोभाकर मिश्र ने तो लक्षणा को काव्य का प्राणतत्त्व स्वीकार किया है।² आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धान्त का सविस्तार वर्णन किया है, तथानुसार छुपकों द्वारा पूर्वसमाम्नात ध्वनि तत्त्व ही काव्य का आत्माभूत है जिसके विषय में अभाववादियों, भक्तिवादियों तथा अस्तिवर्धनीयतावादियों की विप्रतिपक्षियाँ हैं।³ यहाँ भक्ति शाब्द से लक्षणा और गीष्णी दोनों वृत्तियाँ ग्राह्य हैं।

आचार्य जयदेव लक्षणा को सभी अलंकारों के मूलबीज में स्थित मानते हैं। उन्होंने कहा है कि लक्षणा-- शाब्द, पदाद्यं, वाक्याद्यं, संख्या, कारक तथा लिंग में अलंकारों के बीज के रूप में स्थित रहती है।⁴ इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन समय से ही लक्षणा को अत्याधिक महत्त्व प्राप्त था।

1- द्वितीयोल्हको, लाक्षणिक, औपचारिकी, भावतशक्ति इत्यदिशयौ।

त्रिवेणिका, पृ० 5.

2- अलंकार रत्नाकर- पृ० 32

3- काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति छुप्यैः समाम्नात पूर्वः।

तस्याभावं जादुरवरे शक्तमहदुत्तमन्ये। ध्वन्यालोक- पृष्ठ 8

4- शाब्दे पदाद्यं वाक्याद्यं संख्यायां कारके तथा।

लिंगे येयमलंकारादिकुर बीजाया स्थिति।- ध्वन्यालोक- पृ० 289-90

लक्षणा की प्राचीनता

मान्य मे लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग तो भाषा ज्ञान की प्रारंभिक अवस्था में ही करना आरंभ कर दिया होगा, किंतु लक्षणा वृत्ति का अन्वेषण भी अत्यंत प्राचीन है। विश्वेतिहास में प्रथम भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण करने वाले ब्राह्मण ग्रंथों में, भाव्य प्रयोगों का उल्लेख मिलता है। वैदिक काल में इस शब्द का प्रयोग आधुनिक रूप में न मिलता हो, किंतु उक्त लक्षणा का अंकुर ब्राह्मण ग्रंथों में प्रमुख रूप में पाया जाता है। वहाँ आधुनिक समय में प्रचलित लक्षणा परक गुणवृत्ति आदि नामों के उल्लेख भी ही न मिलें, किंतु ऋग्वेद के ऐतरेयब्राह्मण में भक्ति शब्द का उल्लेख पाया जाता है।¹

यास्क प्रणीत निरुक्त में लक्षणा के पर्याय के पर्याय रूप में भक्ति शब्द के उपादान से यह सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन ब्राह्मण ग्रंथों में भी लक्षणा संबंधी विचार किया गया है।² ब्राह्मण ग्रंथों में तत्तादृशों को धारण करने के कारण उपमान को उपमेय पद से व्यक्त करना ही भक्ति शब्द से गृहीत किया गया है। यही भक्ति या गुणवृत्ति ही आगे चलकर लक्षणा के रूप में विकसित हुई। उदभट्ट ने भी गुणवृत्ति के नाम से एक वृत्ति का उल्लेख किया है।³ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में गौण तथा लाक्षणिक अर्थ को भिन्न-भिन्न रूप में बताया गया है तथा लक्षणा अनेक निमित्तों से होती है, यह सिद्ध करने के लिए सादृश्य से की गयी लक्षणा को वक्रोक्ति पद से अभिहित किया गया है।³

1- बरुतां ता भक्तिर्मलत्वतीय मुख्य शास्त्रचामरुच

ती यथा यजति यथा शार्ग तद्देवता प्रीणाति। ऐतरेयब्राह्मण, पृ० ३९

2- बहुभक्तिवादीनि ब्राह्मण वाक्यानि भवन्ति । निरुक्त, भाग-२,
।संपा। वैजनाथ काशीनाथ, राजवाड़े, पृ० ७०८

3- सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः । हिंदी । काव्यालंकार सूत्र, पृ० १६४

ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने भक्ति, गुणवृत्ति आदि शब्दों से लक्षणा को अभिहित किया है । आनन्दवर्धन विरचित ध्वन्यालोक में भी ही लक्षणा शब्द का प्रयोग वृत्तिभाग में अनेक स्थानों पर देखने को मिलता है किंतु कारिका भाग में यह शब्द समुपलब्ध नहीं होता है । आनन्दवर्धन गुणवृत्ति या उपचार शब्द के लिए भक्ति शब्द का प्रयोग करते हैं ।

उपयुक्त वर्णन के आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वैदिक कालीन लक्षणा के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला भक्ति शब्द आनन्दवर्धन के समय तक इसी अर्थ में अक्षुण्ण रूप से व्यवहृत होता रहा है । इससे सिद्ध होता है कि लक्षणा के अर्थ में भक्ति शब्द का प्रयोग यास्क के समय में होता था वे अभिधा के सदृश लक्षणा से भी परिचित थे, किंतु उनके समय में उसे शक्ति कहा जाता था ।

इस प्रकार व्यवहारिक जगत् तथा साहित्य में इस विधा को स्थान मिलता रहा । बाद में व्यवहार को देखकर ही लक्षणा का स्वल्प निलक्षण पश्चाद्वर्ती साहित्य में हुआ । वेदवेदांग के परवर्ती आस्तिक दर्शनों के आगम सागरतल में से लक्षणा विषयक विचार सूत्र संगृहीत किये गये । आस्तिक दर्शनान्तर्गत न्याय, मीमांसा तथा वेदांत-दर्शन में लक्षणा के विषय में बहुत कुछ कहा गया है। तथापि मीमांसा में सर्वप्रथम प्रचुररूप में विस्तार से विचार किया गया । तत्पश्चात् न्याय एवं व्याकरण में भी लक्षणा पर अनेक प्रकार से विचार किया गया ।

संस्कृत काव्यशास्त्र में लक्षणा

संस्कृत काव्यशास्त्र से पूर्व अन्य शास्त्रों में भी लक्षणा विषयक

1- उपचारमात्रं तु भक्तिः । ध्वन्यालोक, पृ० 149

विवेचन दृष्टिगोचर होता है यथा- मीमांसा विषयक ग्रंथों में से शाबरभाष्य, तन्त्रवार्तिक, मीमांसा न्याय प्रकाश आदि ग्रंथ लक्ष्मण प्रतिपादक ग्रंथों में से हैं ।

न्यायदर्शन में श्री लक्ष्मण विषयक विचार हुआ है। गौतम के न्यायसूत्र के अतिरिक्त न्याय ग्रंथों में न्यायपरिशुद्धि तर्कामृत, तर्कभाषा, भाषा रत्न, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शाब्दशक्ति प्रकाशिका, शक्तित्वाद, व्युत्पत्ति-वाद आदि ग्रंथों में लक्ष्मण का वर्णन मिलता है ।

व्याकरण ग्रंथों में म्हाभाष्य, वाक्यदीप, वैयाकरण सिद्धान्त मञ्जूषा आदि ग्रंथ प्रमुख हैं जिनमें लक्ष्मण विषयक विवेचन सम्पूर्ण लक्षण देनी को मिलता है ।

वेदान्त विषयक ग्रंथों में वेदान्त परिभाषा, वेदांतिार, वाक्यवृत्ति, तत्त्वप्रकाशिका, वेदांति सिद्धान्त मुक्तावली, वेदांति कव्य लतिका आदि लक्ष्मण के प्रतिपादक ग्रंथ हैं ।

काव्यशास्त्र में भामह, दण्डी, उदभट, वामन तथा रुद्र प्रभृति प्रारंभिक आचार्यों के ग्रंथों में शाब्दशक्ति की विस्तार से चर्चा तो उपलब्ध नहीं होती है किंतु कृत्रिम शक्तियों का प्रयोगानुकूल उल्लेख अवश्य मिलता है । काव्यशास्त्र में शाब्दशक्ति विषय पर विस्तार से विचार प्रथम बार आचार्य आनंदवर्धन ने ही किया । काव्यशास्त्र की परंपरा में शाब्दशक्तियों का प्रथम बार एकत्रव्यवस्थित विशद विवेचन के साथ ही लक्ष्मण का भी प्रांजल एवं सर्वांगीण विवेचन आचार्य मम्मट ने अपने ग्रंथ काव्य-प्रकाश में प्रस्तुत किया है। उनका शाब्द व्यापार विचार नामक ग्रंथ में भी इसी विषय से सम्बद्ध तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है ।

यद्यपि मम्मट ने पूर्व आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में एवं अग्निपुराण तथा लक्षणा विरोधी आचार्य मुकुल भट्ट की अभिधावृत्ति मातृका नामक ग्रंथ में लक्षणा लक्षण विषय पर प्रकाश डाला जा चुका था परन्तु इन ग्रंथों में एक साथ सम्पूर्ण सामग्री एक साथ संग्रहीत न हो सकी। मम्मट के ग्रंथों में लक्षणा विकासावस्था में पहुँच चुकी थी। उसके बाद जिन ग्रंथों में लक्षणा कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन के साथ विस्तार को प्राप्त हुई है वे इस प्रकार हैं-

काव्यानुशासन, साहित्यमीमांसा, रस प्रदीप, ध्वन्यालोक, साहित्यदर्पण, वृत्तिवार्तिक, काव्यदर्पण, रस गंगाधर, रस पन्द्रिका, कल्पलता विधेक आदि।

लक्षणा विरोधी आचार्य

ध्वनि- विरोधी किंवा लक्षणा- विरोधी आचार्यों ने यद्यपि लक्षणा का विरोध किया किंतु उस विरोध के स्वर में भी जहाँ लक्षणा विकसित हुई वे ग्रंथ हैं -- अभिधावृत्तिमातृका, व्यक्तित्वविधेक, सरस्वती कण्ठाभरण, गूणारप्रकाश आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। इन ग्रंथों में आचार्यों ने लक्षणा का अस्तित्व मिटाने या प्रत्याकरण करने के लिए विधेय शब्द शक्ति का विश्लेषण करते हुए भी लक्षण के विरोध में किंवा लक्षणा को अभिधा के अन्तर्गत करने के लिए अलग से ग्रंथ ही लिख डाले। इस प्रकार का पूर्वोक्त प्रयास भी एक प्रकार से लक्षणा के विस्तार में सहायक सिद्ध ही हुआ।

लक्षणा का क्षेत्र एवं आवश्यकता

सामान्यतः लोक व्यवहार में प्रायः यह देखा जाता है कि पढ़े लिखे विद्वान् कभी गोष्ठियों में अथवा वार्तालाप के समय इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग करते हैं, जिनका प्रयोग ही संगत प्रतीत नहीं होता।

अनुपपत्ति के कारण श्रोता के मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न होनी स्वाभाविक ही है कि वक्ता कहना क्या चाहता है ? वक्ता के कथन का प्रयोजन अथवा तात्पर्य क्या है ? इस प्रकार प्रतीत होने वाले वाक्यों में वक्ता मुख्य शब्द का प्रयोग न कर अमुख्य शब्दों का प्रयोग करता है। उसका कारण भी यही है कि जो प्रयोजन अमुख्य शब्द के प्रयोग के द्वारा ही शत प्रतिशत प्राप्त हो सकता है- मुख्य शब्द के प्रयोग द्वारा वह प्रयोजन संभव नहीं है। इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग वक्ता तभी करता है, जब भावों और विचारों में अत्यधिक तीव्रता हो या वक्ता कथन द्वारा रमणीयता लाना चाहे। ऐसी स्थिति में प्रायः वाच्यार्थ अशक्त सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि इस प्रकार की स्थिति में वक्ता ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जो उस अर्थ के वाचक तो नहीं होते किंतु प्रयोग सामर्थ्य से उस अर्थ को अधिक सफलता पूर्वक कह देते हैं। इस प्रकार के वाच्य शब्दों के प्रयोग में ही लक्षणा मानी गयी है।¹

इस तरह के प्रयोग करने के कुछ कारण विशेष हैं -

प्रथम रुद्धि द्वितीय विशेष प्रयोजन। रुद्धि प्रतिदि को कहते हैं। रुद्धि का उदाहरण लावण्य है, "लवणस्य भावो लवण्यम्" अर्थात् लवण के भाव अथवा लवण युक्तत्व को लावण्य कहना चाहिए। जो इस शब्द का वाच्यार्थ या मुख्यार्थ है। परन्तु लावण्य शब्द का प्रयोग सौन्दर्य के अर्थ में किया जाता है। इसका कारण प्रतिदि स्मृति अथवा रुद्धि है। दूसरे कारण विशेष, प्रयोजन के स्व में "गंगायाम घोरः" को ले सकते हैं। उक्त प्रयोग मुख्यार्थ की दृष्टि से पूर्णतः अनुपपन्न है, क्योंकि गंगा में घर खर नहीं सकता। तब प्रश-

1- वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तितः

तत्संज्ञं शत प्राप्तस्यान्वयात्कृणीष्यते ।।

- प्रकरण पंचिका- पृष्ठ 93

घोष सठ्ठक डिपो, बनारस, 1903

उठता है कि इस वाक्य को वक्ता ने प्रयुक्त क्यों किया ? यह क्यों न कह दिया कि गंगा के किनारे घर है । तथा-कथित अनुपपन्न वाक्य कहने का विशिष्ट प्रयोजन यही है, जो गंगातटे कहने में सिद्ध नहीं होता । वह प्रयोजन शीतलत्व पावनत्वातिशय की प्रतीति कराता है । क्योंकि गंगा का किनारा एक विशाल क्षेत्र तक विस्तीर्ण होता है । जहाँ न शीतलता है और न पवित्रता ही । अतः उपर्युक्त प्रयोग उचित ही है ।

वक्ता घौघ के गंगा प्रवाह में होने की बात से यह घताना चाहता है कि घौघ गंगा की धारा के इतने निकट है कि गंगा की शीतलता से सम्प्रकृत होने के कारण वह गंगा जितना ही पवित्र है । इन तारे अर्थों का मूल कारण गंगा पद ही है। जो अर्थ अभिधा द्वारा अनेक वाक्यों के प्रयोग से भी नहीं लाया जा सकता है उस वास्तवपूर्ण अर्थ की प्रतीति के लिए प्रयोजन को ध्यान में रखकर वक्ता शब्द के सीधे अर्थ से संलग्न अन्य अर्थों को भी शब्दार्थ के भीतर समेटने का प्रयत्न करता है । जहाँ इस प्रकार का प्रयोजन हो, वहाँ प्रयोजनमयी लक्षणा होगी ।

लक्षणा का विवेचन

लक्षणा का विवेचन कालक्रम की दृष्टि से काव्यशास्त्रियों ने पहले दार्शनिक और वैयाकरणों ने प्रारम्भ किया । अतः दार्शनिक और वैयाकरणों में होने वाले लक्षणा विवेचन की यहाँ आवश्यक है ।

• वेद • धर्मग्रंथ होने के साथ-साथ काव्य भी है ।

श्रुतियों ने स्वयं वेदों को काव्य के नाम से पुकारा है । वेदों में अनेक

1- त्वत्थं पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ।

अथर्ववेदभाष्य 10, 8, 32। पंडित होमकरण दास त्रिवेदी, पृ० 2389.

लाक्षणिक प्रयोग हुए हैं और वेद की मीमांसा का लक्ष्य लेकर चलने वाले मीमांसिकों की दृष्टि उन लाक्षणिक प्रयोगों पर गयी। जैमिनि ने ऐसे लाक्षणिक प्रयोगों का वर्गीकरण छः भागों में किया और शबर स्वामी ने उन छहों प्रकार के लाक्षणिक प्रयोगों के उदाहरण वेदों से प्रस्तुत किये यथा-- तत्सिद्धि, जाति, सादृश्यता, प्रशंसा, भूमा, लिंग, सम्प्रदायात् । गुणाप्रया¹

गीतम १ ३०० ई. पू०। लक्षणा के लिए उपचार शब्द का प्रयोग करते हैं। उपचार को दस प्रकार से विभाजित किया गया है -- सहचरण, स्थान, तादृश्य, वृत्त, मान, धारण, सामीप्य, योग, साधन, आधिपत्य² ।

वैयाकरणों में सर्वप्रथम पतंजलि ने महाभाष्य में "पुत्रो गोदार-व्यायाम" इस सूत्र के माध्यम से भाष्य में दो भिन्न पदार्थों में झोटा जब नहीं हो सकता है, तब फिर "अतस्मिन् तः" अर्थात् जो, जो नहीं है, उसमें वह यह है, इस तरह का व्यवहार कैसे होता है ? इसी संदर्भ में उन्होंने बताया कि चार प्रकार से अन्य में अन्य का ज्ञान अर्थात् लक्षणा होती है - ये चार प्रकार हैं -

१क। तात्पर्य - इसका उदाहरण है मंत्रा । तसंति । यहाँ मंत्रस्थ पुरुषों में मंत्र का तादृश्य आरोपित है ।³

१ख। तादृश्य - इसका उदाहरण है-- "जटी ब्रह्मदत्तः" अर्थात् जटाधारा ब्रह्मदत्त है। यहाँ केशस्थ मुख्य जटी का तादृश्य केश स्व धर्मवति ब्रह्मदत्त में आरोपित हुआ है। अतः ब्रह्मदत्त के धर्मों को जटी में देखकर उसे ब्रह्मदत्त ही कह दिया है ।⁴

१-मीमांसा शबरभाष्य, भाग-१, युधिष्ठिरमीमांसिक, बडालगढ़, सीनीपत, हरियाणा
पृ० ३३९, ३४१, ३४३, ३४४, ३४६, ३४७

२-सहचरण स्थान तादृश्य वृत्तमान धारणसामीप्य योगसाधन आडधिरत्येवाहमम् ।
मंत्रकटराज सकुप्यदन गंगाशाठकान्न पुरस्केवतदभावेऽपि तदुपचारः ।। २/६८
न्यायसूत्र, पी.स.सी.आ.धाराणसी, पृ० २८५

३-व्याकरण महाभाष्य, पृ० ५०३, भाग- ३.

४- वही, पृ० ५०३

।ग। तत्सामीप्य-- इसका उदाहरण है-- गंगायाम् घीष । अर्थात् गंगा प्रवाह में आभीर पत्नी है । सामीप्य के कारण गंगातीर को गंगा ही कह दिया गया है ।¹

।घ। तत्साहचर्य - कुन्तानु प्रवेश्य अर्थात् कुंतों को प्रविष्ट कराओ । यहाँ साहचर्य के कारण कुंतधारी व यच्छिखारी को कुंत एवं यच्छि कहा गया है ।²

भामह का लक्षणा विषयक विवेचन

काव्यशास्त्र में शब्दशक्तियों की विस्तार से वर्णन तो ध्वनि की स्थापना के बाद ही हुई है । परन्तु छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रतीयमान या गम्य अर्थ का संकेत भामह के काव्यालंकार * में पाया जाता है । यद्यपि आचार्य भामह से पूर्व भी काव्यशास्त्रीय विवेचन हुआ । जैसा भामह ने स्वयं स्वीकारा है ।³ किंतु आज यह अनुमतव्य है। भामह ने समासोक्ति अलंकार के वर्णन के उपक्रम में अन्य अर्थ की प्रतीति के द्वारा वाच्यार्थ से निम्न प्रतीयमान अर्थ को स्पष्टता से स्वीकार किया है, जो कि लक्षणा का मूल है ।⁴ प्रत्तिस्तूपमालंकार का लक्षण करते हुए कहा है कि यथा, इव आदि शब्दों का प्रयोग न हो, तो भी समान वस्तु के विन्यास।कथन। से गुण साम्य की प्रतीति के आधार पर प्रत्तिस्तूपमा होती है ।⁵

1- तत्सामीप्यात्- गंगायाम् घीषः, कूपे गर्गकुलम्- व्याकरण महाभाष्य, भाग-3, पृष्ठ 503

2- तत्साहचर्यात्- कुन्तानु प्रवेशम्, कटी प्रवेशमति। वही- पृष्ठ 503

3- काव्यालंकार, छिहार राजभाषा परिषद्, पटना, पृष्ठ 142

4- यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः ।

ता समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा । 2/79, काव्यालंकार, पृष्ठ 60

5- वही, पृष्ठ- 43

इस लक्षण से यह स्पष्ट होता है कि प्रतियस्तूपमा अलंकार में गुण सादृश्य के आधार पर दो भिन्न धर्मों में भी सादृश्य मान लिया जाता है यहाँ गौणी लक्षणा के भाव की छाया देखी जा सकती है। शाब्दशक्ति का स्वल्प अंशुरितावस्था में ही हमें उनके ग्रंथ काव्यालंकार में दृष्टिगोचर होता है। स्पष्टतया आचार्य भामह ने लक्षणा के लक्षण तथा भेदों के विषय में कुछ भी नहीं कहा। यहाँ तक कि शाब्दशक्ति के विषय में भी पुष्पक स्थेन कोई यहाँ नहीं की है।

दण्डी का लक्षणा विषयक विवेचन

यद्यपि दण्डी ने भी शाब्दशक्ति विषयक पुष्पक स्थेन कोई यहाँ नहीं की है, किंतु "काव्यादर्श" में इन्होंने व्यंग्याद्ये का संक्षिप्त उदात्त आदि गुणों के निरूपणावसर पर किया है। उदात्त नामक गुण के धर्मेन के अवसर पर दण्डी ने कहा है कि व्यक्ति विशेष द्वारा उत्कर्षमानु गुण प्रतीति व्यंजना द्वारा होने पर उदात्त नामक गुण होता है। दण्डी के समाधि गुण का उदाहरण लक्षणा वृत्ति के अधिक निकट है यथा-

कुमुदानि निमीलन्ति कमामान्युन्निमघन्ति य ।

इति नेत्रक्रियाटयातात्पल्या तदायिनी वृत्तिः॥

यहाँ कुमुदों और कमलों में नेत्र की क्रिया निमीलन और उन्मीलन का आरोप होने के कारण उस नेत्र क्रिया का बंद होने के अर्थ में "उन्मीलन" का व्यवहार हुआ है। इस प्रकार "निमीलन" और "उन्मीलन" का प्रयोग यहाँ लाक्षणिक अर्थ में है। इस रूप में समाधिगुण लक्षणावृत्ति के अधिक निकट है।

उद्भट का लक्षणा विषयक विवेचन

अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य उद्भट ने लक्षणा विषयक चर्चा पृथक् रूप से नहीं की है । किंतु स्वकालंकार के वर्णन के उपक्रम में उन्होंने लक्षणा का अस्तित्व माना है तथा इस प्रसंग में गुणवृत्ति शब्द का प्रयोग किया है ।¹

रुद्रट का लक्षणा विषयक विवेचन

आचार्य रुद्रट ने शब्द शक्तियों का उल्लेख नहीं किया किंतु अर्थालंकारों का वर्णन करते समय यह बताया गया कि वाचक शब्द के अभिव्यायुक्त अर्थ चार प्रकार के होते हैं - द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति । यहाँ अभिव्या और वाचक पदों के प्रयोग से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि रुद्रट शब्दशक्ति के तथ्य से परिचित थे ।²

आनंदवर्धन से पूर्व लक्षणा विषयक विवेचन

आनंदवर्धन से पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षणा ग्रंथों में लक्षणा का विवेचन परवर्ती आचार्यों के समान उपलब्ध नहीं होता है। लक्षणा ही नहीं, शक्तियों से भी अभिव्या को छोड़कर किसी की भी स्वरूपित चर्चा उपलब्ध नहीं होती है। आचार्य रुद्रट तो वाचक शब्द की ही चर्चा करते हैं । अलंकार शास्त्र के आचार्य भामह इस विषय में मौन दृष्टिगोचर होते हैं । यद्यपि दण्डी ने काव्यदर्श में समाधि नामक गुण वर्णन के अवसर पर लक्षणा के विषय में तो कहा किंतु लक्षणा के सम्बन्धों के विषय में कोई चर्चा नहीं की है। आचार्य वामन सातद्वय संक्षेप से की गयी लक्षणा को वक्तव्य मानते हैं । लक्षणा

1- काट्यालंकार सार-संग्रह एवं लघुवृत्ति, पृ० 268

2- अर्थः पुनरभिव्याधान्प्रवर्ति तस्य वाचकः शब्दः ।

तस्य भवन्ति द्रव्यं गुणः क्रिया जातिरिति भेदाः ॥ 7.1

में अनेक निबंधनों को स्वीकार करते हुए भी¹ उनका उल्लेख करने में मौन ही दृष्टिगोचर होते हैं। सादृश्य के अतिरिक्त सम्बन्धों से होने वाली लक्षणा वक्रावृत्ति की कीटि में नहीं आती है। इस प्रकार वामन सम्बन्धात्मा निमित्त को स्वीकार करते हैं।

आचार्य उदभट ने रूपकालंकार के वर्णन में गुणवृत्ति के उन्मेष में "भूतया सम्बन्ध- विरहात्" की भी प्रतीति: यहाँ की है।² अर्थात् मुख्यार्थ का जो संबंध वह भूत होता है, वही अभीष्ट भूत संबंध अभिधा-त्म्य अर्थ द्वारा न बन सके, तब गुणवृत्ति का उन्मेष होता है। दूसरे शब्दों में साध्यात् उस अभिधात्मक शब्द व्यापार से जब दूसरे पद के साथ संबंध न हो सके, फलतः गुणबोधक एक पद जहाँ दूसरे पद से सम्बद्ध हो, वहाँ स्वकता होती है। इस तरह भामह, दण्डी, उदभट, रुद्रट, वामन आदि आचार्यों के ग्रंथों के विवेचन से यह सुनिश्चित हो जाता है कि उन्होंने अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना नामक शक्तियों को अवश्य माना है, सर्वथा निषेध नहीं किया है, भी ही वृत्तियों का विवेचन आनंदवर्धन के परवर्ती आचार्यों के समान नहीं किया गया। इनका सम्यक् पंडित राज जगन्नाथ ने भी किया है। इनका मत है कि आधुनिक विद्वानों का यह कहना असमीचीन है कि ध्वनिकार आनंदवर्धन से पूर्ववर्ती भामह प्रभृति आचार्यों ने अपने ग्रंथों में कहीं ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य आदिशब्दों को व्यवहृत नहीं किया, क्योंकि समासोक्ति, काव्यस्तुति अस्तुत प्रशंसा आदि अलंकारों के वर्णन के माध्यम से गुणीभूत व्यंग्य के कितने ही भेद उन्होंने निरूपित किये हैं। इसके

1-सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति । 4.3-8

ध्वनि निबंधनानि लक्षणायां ।। -- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, पृ० 235

2-काव्यालंकार- सारसंग्रह एवं लघुवृत्ति, पृ० 268

अतिरिक्त व्यंग्य का समस्त प्रपञ्च पर्यायोक्ति अलंकार की कुक्षि में निक्षिप्त कर दिया ।¹

आचार्य आनंदवर्धन ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की वृत्ति को पहचानकर रस, रीति, अलंकार को काव्य का जीवनाधारक तत्त्व न मानकर काव्यात्मकता के दर्शन उन्होंने ध्वनि तत्त्व के रूप में किये तथा इस सिद्धान्त की स्थापना भी की । इनके अतिरिक्त आनंदवर्धन से पूर्व अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य नामक तीन वृत्तियाँ प्रचलित थीं किन्तु आनंदवर्धन ने उक्त वृत्तियों से लब्धार्थ से अतिरिक्त अर्थ के द्योतक एक अन्य वस्तु ध्वजना वृत्ति के आधार पर व्यंग्यार्थ की स्वीकृति करते हुए ध्वनि तत्त्व का प्रतिष्ठापन किया । आचार्य आनंदवर्धन ने तात्पर्य शक्ति को अस्वीकार करते हुए केवल अभिधा, गुणवृत्ति और व्यंजना नामक तीन शक्तियों को ही स्वीकार किया ।

ध्वन्यालोक तीन उद्योतों में विभाजित किया गया है। लक्षणा-विषयक चर्चा तीनों उद्योतों में प्रकरण के अनुसार की गयी है । प्रथम उद्योत में भाक्तों का छन्द² किया गया है। द्वितीय में अविवक्षित वाच्य ध्वनि की चर्चा की गयी है ।³ तृतीय उद्योत में लक्षणा एवं व्यंजना के पार्थक्य के निम्नभावतर पर लक्षणा विषयक चर्चा की गयी है ।⁴

1- ध्वनिकाशश्च प्राचीनेर्भास्वोदभूत प्रभृतिभिः...

व्यंग्य प्रपञ्चः पर्यायोक्ति - कुक्षौ निक्षिप्तः ॥ रसगंगाधर, पृष्ठ 10 वि०
वाराणसी, पृष्ठ 370

2- भाक्तमाहुस्तमन्ये । अन्ये तु ध्वनि संज्ञितं काव्यात्मानं गुण वृत्तिरित्याहुः ।
ध्वन्यालोक, पृष्ठ 29

3- एवमविवक्षितं वाच्यविवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन ध्वनिर्दिष्टकारः प्रकाशितः ।

तत्राविवक्षितवाच्यस्य प्रमेयप्रतिपादनाय उदयुध्यते -

अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ।

अविवक्षित वाच्यस्य ध्वनेऽप्यर्थं दिष्टा मतम् ॥ 2. 1. ध्वन्यालोक,
पृष्ठ 173-174

4- ध्वन्यालोक- पृष्ठ 464, 476

यद्यपि मम्मटाचार्य की तरह आनन्दवर्धन ने सभी निमित्तों को स्पष्टतः एक ही स्थल पर गिनाया नहीं है, तथापि मुख्यार्थ वाच्य, प्रयोजन¹ सम्बन्ध² व रुद्धि³ आदि निमित्तों की चर्चा यत्र-तत्र प्रकरण के अनुसार की है। ये अभिधा को केवल शक्य अर्थात् मुख्य अर्थ तक सीमित मानते हैं, द्वितीय व्यापार को गुणवृत्ति, भक्ति और लक्षणा नाम से अभिहित करते हैं⁵। तथापि लक्षणा के लिए वे गुणवृत्ति शब्द का प्रयोग अधिक करते हैं। जैसा पूर्व में कहा जा चुका है कि कारिका भाग में 'लक्षणा' शब्द कहीं भी व्यवहृत नहीं हुआ है, वृत्तिभाग में बार बार प्रयुक्त हुआ है। इन्होंने अन्य आचार्यों के समान लक्षण का लक्षण भी नहीं किया है। किंतु वे असुख्य रूप से व्यवस्थित वाचकत्व को ही गुणवृत्ति मानते हैं।⁶

ध्वनितत्त्व के विकास में धियाकरणी का योगदान आनन्दवर्धन तथा मम्मट ने स्वीकार किया एवं उन्हें तूरि और 'बुध' शब्द से अभिहित

- 1- मुखार्थ वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यर्थं दर्शितम् ।
यद्विषय फलं तत्र शब्दो नैव स्थानदगतिः ।।-- ध्वन्यालोक-1. 17, पृ० 15
- 2- 'अग्निर्माणिक्यः इत्यादी, यदा वा स्वाधे मंगोनापरित्यज- स्तत्संबन्ध
दारेण विषयान्तर माक्रामति । वही, पृ० 47।
- 3- सदा ये विषयेभ्यः शब्दाः स्वविषयादपि । 1. 16, वही, पृ० 156
- 4- भक्त्या विभक्तिं नेकत्वं स्ववेदादयं ध्वनिः
1. 14, पृ० 149
- 5- गुणवृत्तित्तु उपचारेण लक्षणा--
वीभयाग्रयापि भवति ।..... 1. 17 ध्वन्यालोक, पृ० 464, 14
- 6- यदमुख्यतया व्यापारी गुणवृत्तिः प्रतिदद्या ।
पृ० 464

किया है । स्फोटवादी आचार्यों की जो ' ध्वनि ' थी, वह अनित्य शब्दमात्र तक सीमित थी । उसका व्यंजकत्व भी उसी अनित्य शब्द तक सीमित था, उस अनित्य शब्द में व्यंजकत्व के अतिरिक्त कोई अन्य वृत्ति, व्यापार या शक्ति उन्होंने नहीं मानी थी, किंतु आनंदवर्धन ने अपनी ध्वनि रचना में बहुत आगे बढ़ गये । उन्होंने ध्वनि से -शब्द, वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ, व्यंजना-व्यापार तथा ज्ञाते युक्त काव्य, इन पाँच अर्थों को अपनाया ।²

अभिन्नगुप्त का लक्षणा विषयक विचार

अभिन्नगुप्त ने आनंदवर्धन एवं परवर्ती आचार्यों मम्मट के अनुसार लक्षणा का लक्षण तो नहीं किया, किंतु लक्षणा और गोष्ठी के लिए 'उपचार' शब्द का प्रयोग किया है जो शक्ति या लक्षणा का ही नामान्तर है ।³

लक्षणा के बीजों के वर्णन के उपक्रम में ही उन्होंने लक्षणा का लक्षण यत्किंचिद् परिभाषित कर दिया है ।⁴ लौचन टीका के द्वारा यह भी स्पष्ट किया कि लक्षणा शक्ति मुख्यार्थ बाध आदि तीन सहकारियों की अपेक्षा से अर्थ के प्रतिभासन बोधन की शक्ति है ।⁵

1- काव्यत्वात्माध्वनिरिति ध्रुवैः समाम्नातपूर्वस्तस्याभावं जगदुपरे भावताम्बुल-
मन्ये।

केतयिदवावा' स्थितियविषय तत्त्वमुयुस्तदीयसु तेनष्टमः सहृदयमनःप्रीतये तत्त्वत्वात्
१.। -ध्वन्यालोक, पृष्ठ 8

2- ध्वन्यालोक लौचन, पृष्ठ 104-105

3- उपचारो गुणवृत्तिर्लक्षणा। ध्वन्यालोक-लौचन, पृष्ठ 149.

4- मुख्यस्य वार्थस्य शोभनशक्तिरित्येवं मुख्यार्थबाध निमित्तं, प्रयोगतमिति, त्रयसदभाव, उपचार बीजमित्युक्तं भवति ।

-ध्वन्यालोक लौचन, पृष्ठ 31-32

5- मुख्यार्थ बाधादिसहकार्यैक्षार्थं प्रतिभासन शक्तिर्लक्षणा शक्तिः ।

वही, पृष्ठ 60

अपने ग्रंथ "काव्यप्रकाश" में मम्मट ने मुखयार्थबाध, सम्बन्ध एवं रुढ़ि अथवा प्रयोजन में से अन्यतर को अनिवार्य रूप से स्वीकार करते हुए ही, अर्थात् तीनों हेतुओं के रहते हुए ही आरोपिता क्रिया को लक्षणा स्वीकार किया है।¹ फलतः वाच्यार्थ के बाध होने पर, लक्ष्यार्थ के उत्तरे सम्बद्ध होने पर, रुढ़ि या प्रयोजन के कारण जहाँ अन्य अर्थात् वाच्यार्थ से किन्न अर्थ लक्षित हो, वहाँ आरोपित क्रिया रूप लक्षणा होती है। वस्तुतः मम्मट का उक्त लक्षण निःसंदेह व्यवहारिक तथा सरलता लिए हुए है, उसमें लक्षणा की तीनों आवश्यकताओं का स्पष्ट निस्मरण हुआ है। उनके लक्षणा-लक्षण में आये हुए "परा" पद की व्याख्या करके, टीकाकारों ने इस लक्षण को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। इन टीकाकारों में आचार्य विश्वनाथ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।² काव्यप्रकाश के अन्य टीकाकारों ने भी लक्षणा-लक्षण की विस्तृत व्याख्या की है।

आचार्य विश्वनाथ ने आरोपित क्रिया का स्पष्टीकरण काव्यप्रकाश की दर्पण नामक टीका में किया है उनके अनुसार स्वाभाविक है

1- मुखयार्थबाधे तद्योगे रुढ़ितोऽथ प्रयोजनात् ।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्तान् लक्षणारोपिता क्रिया ॥

2/9

काव्यप्रकाश, पृ० 51

2- यदित्यस्य यत् इति वार्थः, उक्तम् -

मुखयार्थबाधे तद्युक्तो यमान्योऽर्थः प्रतीयते ।

इति दर्पणद्वयेभ्यः काव्यप्रकाश, तटीक,

। टीका 10 गोकुलनाथ उपाध्याय, पृ० 58

इतर अथवा ईश्वर से अनुद्भाविता शक्ति ही आरोपिता क्रिया है । गौपाल भट्ट ने ' तयोगे ' का अर्थ काव्यकाशा की टीका में किया है जिसके अनुसार उस बाधित मुख्यार्थ के साथ लक्षित होने के लिए अभिलक्षित अर्थ से सम्बन्ध होने पर लक्षणा होती है-- ऐसा अर्थ प्रस्तुत किया है ।

आचार्य विश्वनाथ का लक्षणा विषयक विवेचन

आचार्य विश्वनाथ ने लक्षणा की परिभाषा मम्मट से मिलती-जुलती की है । अन्तर इतना है कि मम्मट ने आरोपिता क्रिया को लक्षणा माना है, ये अर्पित-शक्ति को लक्षणा मानते हैं मुख्यार्थ के बाध होने पर रुढ़ि अथवा प्रयोजनादौ उक्त मुख्य अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ जिस शक्ति से प्रतीत होता है, वह अर्पित शक्ति लक्षणा है ।² इन्होंने शक्य सम्बद्ध अशक्यार्थ- प्रतीति का हेतु लक्षणा माना है । वस्तुतः लक्ष्यार्थ शब्द का वास्तविक अर्थ न होकर आरोपित अर्थ है । दण्डयुक्त आदि न्याय से लक्षणा तीनों हेतुभूत- तत्त्वों के एक साथ होने पर ही होगी । अतः प्रतीयकार ने इन तीनों को लक्षणा का हेतु बताते समय बहुवचन का प्रयोग न कर एकवचन का प्रयोग किया है ।³

1- आरोपिता स्वाभाविकेतरा ईश्वरानुद्भाविता वा ।

-- काव्यकाशा, सटीक । टीका विश्वनाथः, पृ० 17

2- मुख्यार्थ बाधे तद्युक्तो यमाह्वयोदर्थः प्रतीयते ।

लक्षे प्रयोजनादौ लक्षणा शक्तिरर्पिता । 2.5. साहित्यदर्पण, पृ० 85

3- 'तद्वैतु : शक्य सम्बन्धो लक्षणा ' इतिपरमार्थः ।

- काव्यकाशा, सटीक । टीका गोविन्द लक्ष्मणः ।, पृ० 27

पंडितराज जगन्नाथ ने प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रयुक्त लक्षणा के लक्षण को ही अपनाया है। दूसरे शाब्दों में श्रीवत्सलाचन भट्टाचार्य, केशवमिश्र तथा कवि कर्णभूर की पदावली को ही इन्होंने अपनाया है। जिस किसी पद के शाब्दार्थ, अर्थवार्थ, का जिस किसी पदार्थ के साथ जो सम्बन्ध, उसको लक्षणा कहते हैं। लक्षणा के लक्षण के विषय में भैयाणिकों के अनुगामी प्रतीत होते हैं। अतः सारांश रूप से यह कहा जा सकता है कि लक्षणा के साथ वाच्यार्थ का सम्बन्ध ही लक्षणा है।

प्राचीन विद्वानों ने वाच्यार्थ के सम्बन्ध द्वारा वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की स्मृति को लक्षणा माना है। किंतु आधुनिक विद्वान उक्त लक्षण को अमान्य करारते हैं। इसका कारण यह है कि अर्थ की स्मृति होने से, जिसका ज्ञान कारण रूप हो वह पदार्थ शाब्द की वृत्ति किंवा आधुनिक शाब्दों में शाब्द कहलाता है। वह वस्तु स्मृति रूप नहीं, अपितु सम्बन्ध रूप है, क्योंकि पूर्वोक्त स्मृतिज्ञान का ज्ञान लक्ष्यार्थ के बोध का कारण नहीं है, अतः उसे ही लक्षणा मानना उचित है, न कि उसकी स्मृति को। इस तरह आधुनिक विद्वान वाच्यार्थ के सम्बन्ध को लक्षणा मानने लगे हैं। इसी लक्षणा को रत्नगंगाधर में स्थान दिया गया है।

संस्कृत साहित्यशास्त्र में लक्षणा के भेद नित्यन के संदर्भ में ऐकमत्य नहीं है । आचार्य मुकुलभट्ट, मम्मट, विश्वनाथ, विद्याधर, दीक्षित ज्ञानब्रह्म आदि पंडितों ने अपने-अपने विचारानुसार लक्षणा के भेद बताए हैं जहाँ कतिपय विद्वानों का विवेचन द्रष्टव्य है -

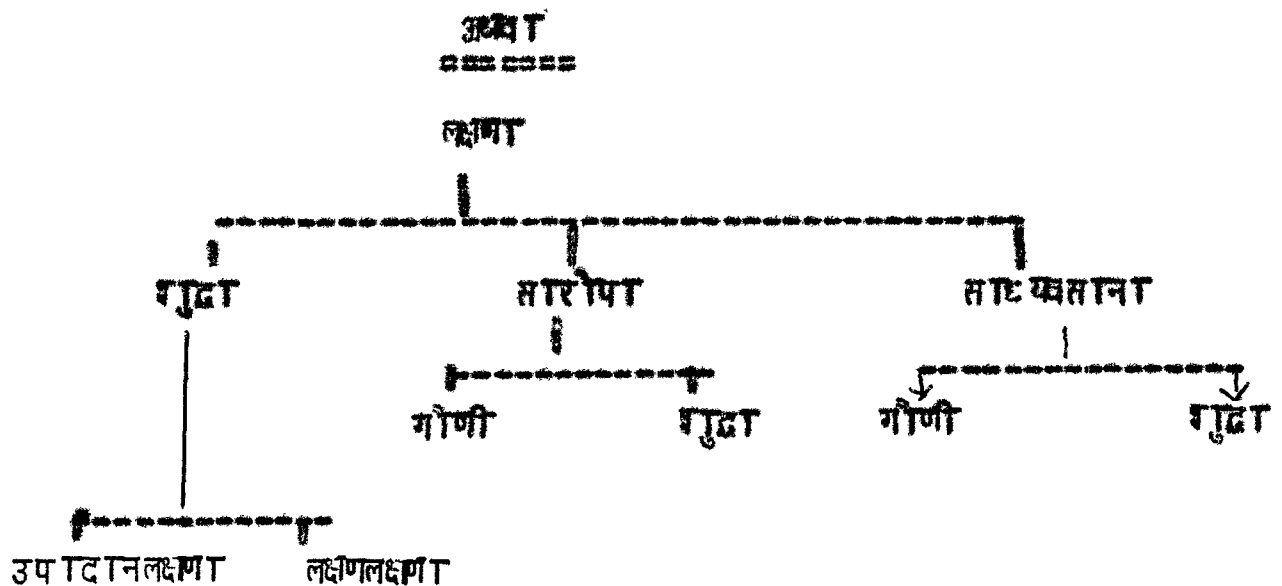
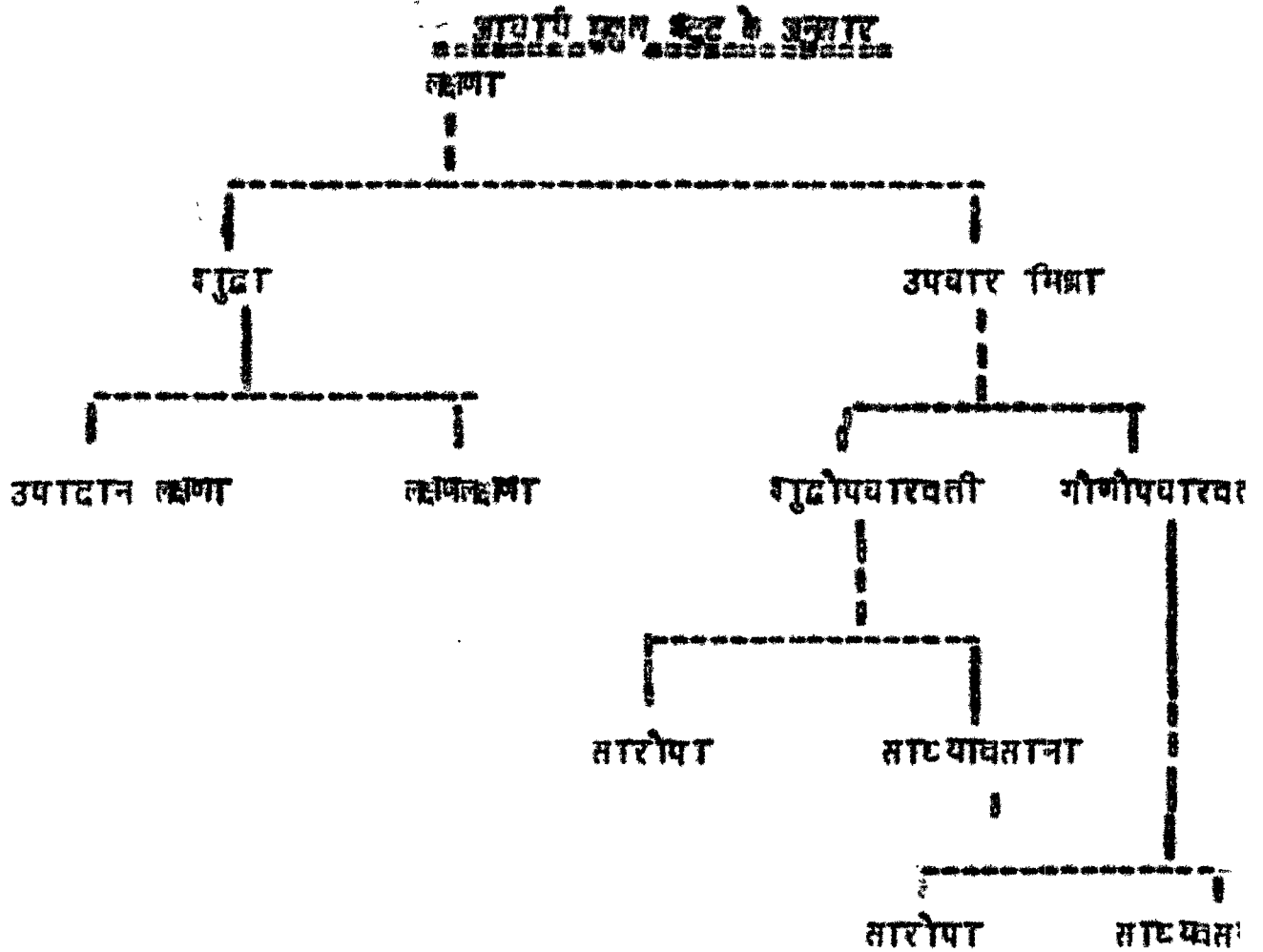
आचार्य मुकुलभट्ट लक्षणा के सर्वप्रथम दो भेद करना चाहते हैं -- शुद्धा और तोपवारा। उपचार वाली। इसे ही गौणी भी कहते हैं । शुद्धा लक्षणा में लक्ष्य और वाच्य अर्थों के बीच सादृश्य का अभाव रहता है, जबकि तोपवारा में सादृश्य सम्बन्ध ही लक्षणा का मूल हेतु हुआ करता है ।

शुद्धालक्षणा के पुनः दो भेद करते हैं- उपादान लक्षणा और लक्ष्य लक्षणा । जहाँ वाच्यार्थ में वाच्यार्थ की अन्यय की सिद्धि के लिए वस्तुवन्तर का आक्षेप किया जाता है, इसे उपादान लक्षणा करते हैं और जहाँ इसके विपरीत अर्थान्तर की सिद्धि के लिए स्व- अर्थ का समर्पण हो उसे लक्ष्यलक्षणा कहते हैं । इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त शुद्धा। शुद्ध उपचार। और गौणी । तोपवारा या गौणउपचारवती। लक्षणा में आरोप और अट्यक्तान भेद से पुनः दो-दो भेद हो जाते हैं । इस प्रकार मुकुलभट्ट के अनुसार लक्षणा का विभाजन निम्नलिखित छः प्रकार से होता है--1। उपादान लक्षणा

- 12। लक्ष्यलक्षणा । 3। तोपवारा तारोप शुद्धा । 4। तोपवारा तारोपा गौणी ।
15। तोपवारा-ताट्यक्ताना-शुद्धा । 6। तोपवारा ताट्यक्ताना गौणी ।

जैसा कि बताया जा चुका है कि गौणी लक्षणा में वाच्य और लक्ष्य अर्थों के बीच सादृश्य सम्बन्ध रहा करता है । शुद्धा लक्षणा में यद्यपि सादृश्य

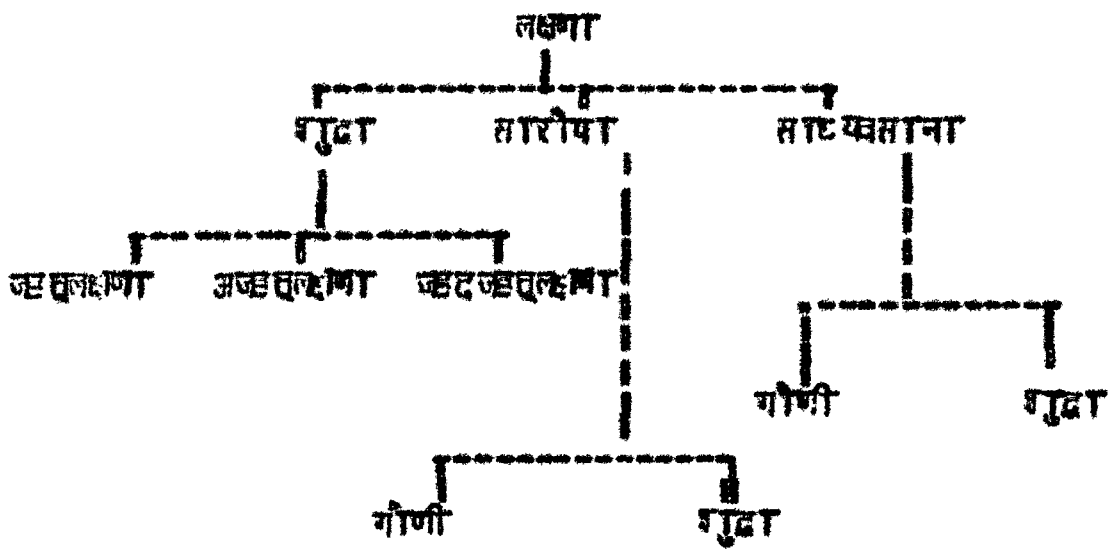
के अतिरिक्त कोई भी सम्बन्ध हो सकता है, तथापि मुकुल भट्ट ने सम्बन्धों की चर्चा करते हुए संबंध अर्थात् सामीप्य, सादृश्य सम्बन्ध अर्थात् सामूहिकता वैपरीत्य एवं क्रियायोग इन पाँच सम्बन्धों का परिगणन किया है। इस प्रकार उनके अनुसार लक्षणा के अन्य अनेक सम्बन्ध इनके अन्तर्गत ही समाहित हो जाते हैं। इसे रेखाचित्र द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है--



आचार्य विद्याधर एवं अप्यय दीक्षित लक्षणा के अन्य प्रकारों की समान रूप से स्वीकार करते हैं किंतु उन्होंने लक्षणलक्षणा एवं उपादान लक्षणा के स्थान पर क्रमशः जहल लक्षणा एवं अजहल लक्षणा नामों की स्वीकारा है । साथ ही वे इनके समानांतर जहलजहललक्षणा नामक एक अन्य भेद भी स्वीकार करते हैं । इसी उदाहरण के रूप में वे ग्रामोदग्धः । गवि जल गया । पुष्पित वनम् । जल पुल उठा । इत्यादि वाक्यों को प्रस्तुत करते हैं । जहाँ एक देश के दग्ध या पुष्पित होने पर समष्टि। समग्र। के बोधक पदों का प्रयोग होता है । लक्षणा के इन भेद प्रभेदों के उदाहरण निम्न में द्रष्टव्य हैं -

आचार्य विद्याधर के अनुसार

=====



१- मुखयार्थानुपपन्नो तयोमे रुदितोद्धवापि फलात्

शब्दोद्भूयति परार्थं यात्मानं तदा जहलस्वाया।

आक्षेपः श्रियौद्धताव जहलस्वार्थं तमारब्धाता

शब्दस्वार्थं यदि जहलजहलस्वार्थं समाख्याता ।

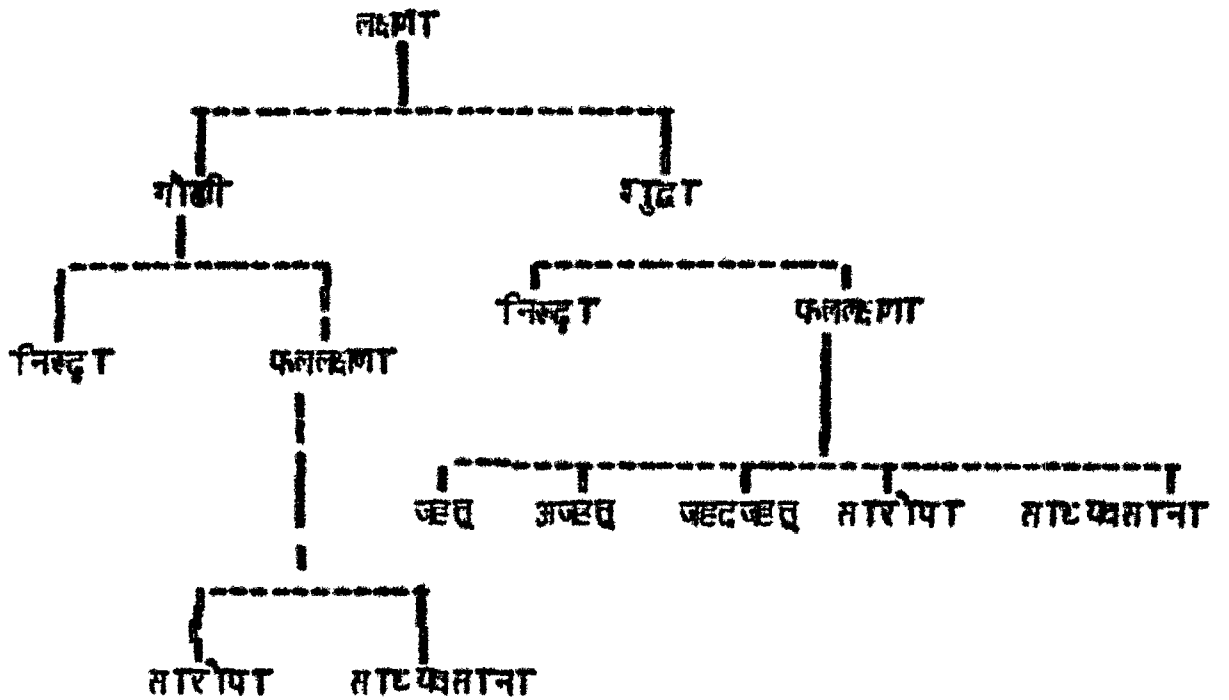
विषयी विषयस्य यदा सरीष त्यात्तदा द्विविधा । गोणी शुद्धा चेति।

विषयि निमीर्ण विषयि साध्यस्ताना दिधा उयाता । गोणी शुद्धा चेति।

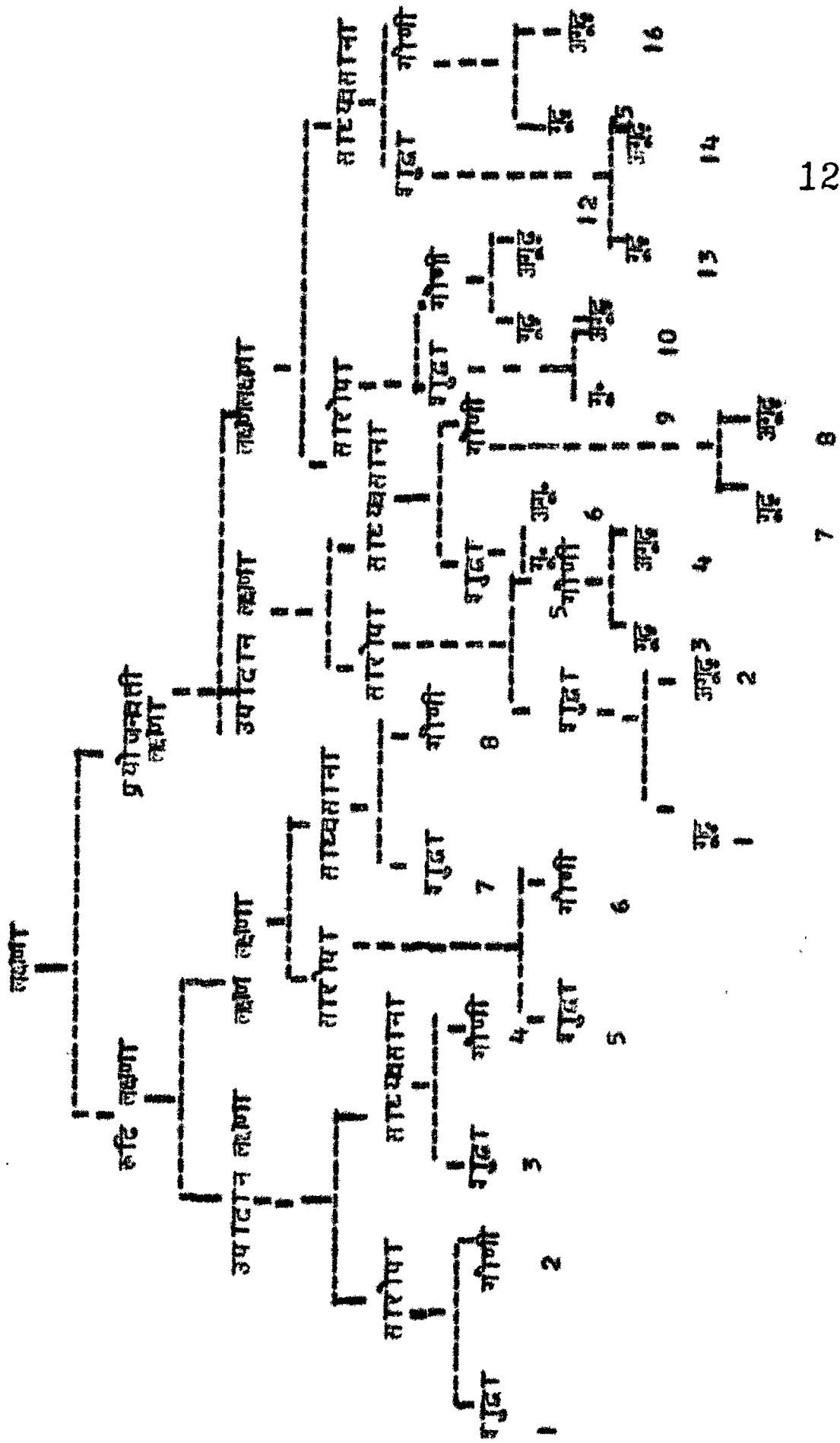
एकावली-- पृ० 62-63

वृत्ति वार्तिककार दीक्षित के अनुसार

=====



आचार्य मम्मट ने लक्षणा के छह प्रकारों का वर्णन किया है "लक्षणा तेन षड्विधा" जिसका उल्लेख बाद में किया जायेगा। परमाहित्यदर्पण के प्रणेता आचार्य विश्वनाथ इसके 80 भेदों का उल्लेख करते हैं -- उन्होंने लक्षणा के दो प्रकार किये हैं -- शुद्ध लक्षणा एवं प्रयोजनवती लक्षणा। इस प्रकार आगे चलकर पुनः इसके दो-दो भेद किये -- उपादान लक्षणा एवं लक्षण लक्षणा। इस प्रकार कुल चार भेद हुए। पुनः इनके तारोपा एवं साध्यवसाना नामक दो-दो भेद किये गये। अतः आठ प्रकार हुए। फिर शुद्धा एवं गोणी के नाम से इनके दो-दो प्रकार होकर 16 भेद हुए। प्रयोजनवती के शुद्ध व्यंग्या एवं अशुद्धव्यंग्या के नाम से 16 भेद और इनके भी धर्मिता एवं धर्मगत लक्षणा के रूप में 32 भेद हुए। इस प्रकार शुद्धि के आठ एवं प्रयोजनवती के 32 भेद मिलकर चालीस भेद हुए। प्रत्येक भेद के पद एवं वाक्यगत रूप होने पर लक्षणा 80 प्रकार की हो जाती है। जैसा कि उन्होंने स्पष्ट किया है।



इस प्रकार रुदिमती लक्षणा के आठ भेद हुए -

- 111 शुद्धा सारोपा उपादानमूला रुदिलक्षणा ।
- 121 गीणीसारोपा उपादानमूला रुदिलक्षणा ।
- 131 शुद्धा साध्यसताना उपादानमूला रुदिलक्षणा ।
- 141 गीणी साध्यसताना उपादानमूला रुदिलक्षणा ।
- 151 शुद्धा सारोपा लक्षणमूला रुदि लक्षणा ।
- 161 गीणी सारोपा लक्षणमूला रुदि लक्षणा ।
- 171 शुद्धा साध्यसताना लक्षणमूला रुदि लक्षणा ।
- 181 गीणी साध्यसताना लक्षणमूला रुदि लक्षणा ।

ये ही आठों लक्षणार्थ पदगत और वाक्यगत के भेद से तोल्य हो जाती हैं ।

प्रयोजनवती के उपर्युक्त सोलह भेदों के धर्मिभेद और धर्मिभेद से 32 भेद हो जाते हैं । 32 भेदों के पद और वाक्य के भेद से 64 भेद हो जाते हैं ।

इस प्रकार रुदि के 16 भेद और प्रयोजनवती के 64 भेद मिल कर लक्षणा के 80 भेद हो जाते हैं ।

-
- 1- धर्मिधर्मगतत्वेन फलरूपिता अपि दिष्टा ।
तद्विष लक्षणाभिदाश्रयत्वारिगान्मता ब्रूयैः ॥
पदवाक्यगतत्वेन प्रत्येकं ता अपि दिष्टा ॥

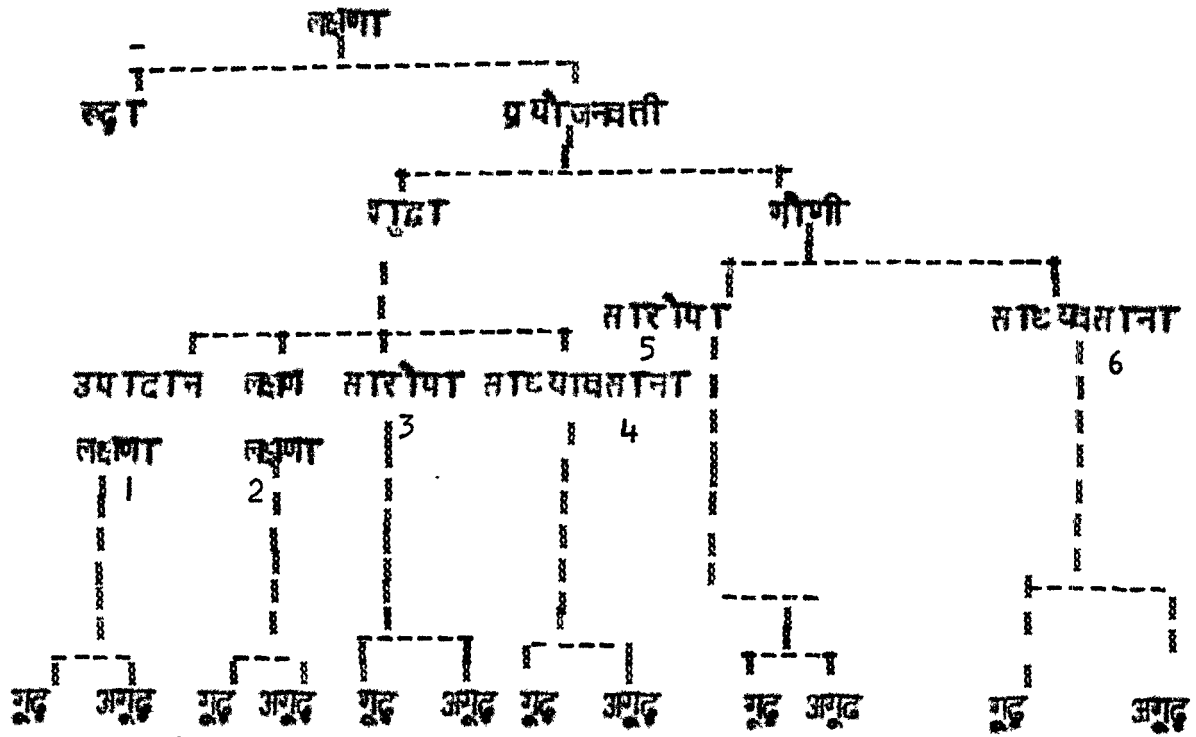
आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश एवं शाब्द व्यापार विचार नामक ग्रंथ में मुकुलशब्द विरचित अभिधावृत्तिमातृका से प्रभावित होकर नामपरिवर्तन के साथ लक्षणा के विभाजन को आत्मसात् किया। इन्होंने अपने दोनों ही ग्रंथों में लक्षणा के लक्षण। मुख्यार्थ वाच्य, लोभ रुद्धि अथवा प्रयोजन। को प्रस्तुत करके उसके भेदों का विवरण दिया है। काव्यप्रकाश में वृत्ति भाग में रुद्धि का किंपित् तर्कित दिकर प्रयोजनवती लक्षणा का ही सविस्तार वर्णन है। जबकि शाब्द व्यापार विचार में सर्वप्रथम प्रयोजनवती के भेदों का कथन हुआ है। और उसके अनंतर रूढ़ा लक्षणा पर कुछ अधिक विस्तार से विचार किया गया है। उक्त प्रयोजनवती लक्षणा भी उपादान लक्षणा तथा लक्षण लक्षणा भेद से दो प्रकार की मानी गयी है। ये दो भेद शुद्धा लक्षणा के ही होते हैं। क्योंकि इनमें उपधार अर्थात् सादृश्य का अभाव पाया जाता है। जहाँ सादृश्य अर्थात् उपधार के कारण लक्षणा होती है, वहाँ गौणी लक्षणा कहलाती है। उक्त दोनों प्रकारों की लक्षणाओं। शुद्धा और गौणी। के आरोप और अध्यस्तान के कारण दो-दो भेद और होते हैं। ये दोनों भेद सादृश्य एवं सादृश्यतर कारिकाएँ भावादि सम्बन्धी के कारण होते हैं। इस प्रकार पूर्व वर्णित उपादान लक्षणा तथा लक्षण लक्षणा के दोनों भेदों को मिला देने से लक्षणा छः प्रकार की होती है। समाहार के स्व में दोनों ही स्थानों पर "लक्षणातेनं वदविधा को स्वीकार किया गया है। काव्यप्रकाश में प्रयोजनवती लक्षणा, व्यंग्य के शुद्ध और अशुद्ध भेद के कारण द्वादश भाव को प्राप्त हो जाती है। रूढ़ा और सम्मिलित करने पर जहाँ काव्यप्रकाश में तेरह भेद करते हैं

1- जातिः क्रिया गुण संज्ञा वाच्योद्घर्ष समित्थवनिः ।

तदुपाधे रुद्धितोड्यदि वा लक्षणीयस्तदन्वितः ॥

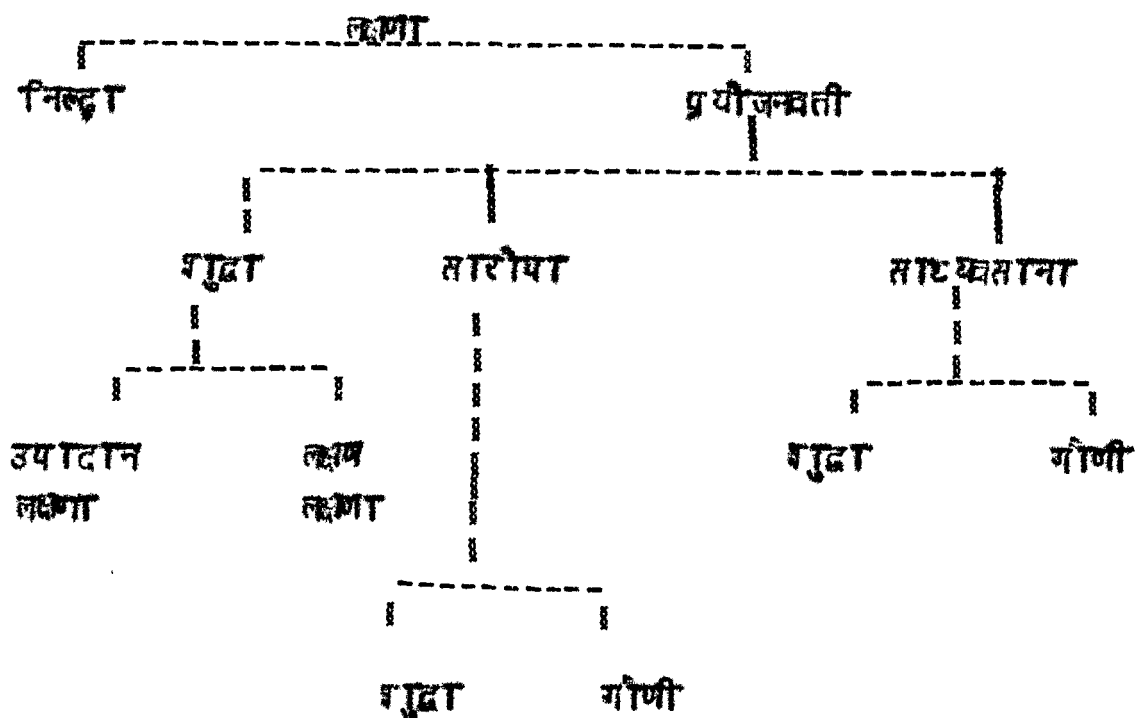
--शाब्दव्यापार विचार, पृष्ठ 1, 7.

वहाँ * शब्द व्यापार विचार * में प्रयोजनवती के छः तथा एक रूढ़ा-
इस प्रकार कुल सात भेद ही होते हैं । काव्यकाश की तरह भेदवाली
लक्षणा इस प्रकार बनती है -



व्यंग्य की गुह्यता एवं अगूढ़ता के आधार पर आचार्य मम्मट ने प्रयोजनवती लक्षणा के पूर्वोक्त 12 भेदों का उल्लेख किया है ।

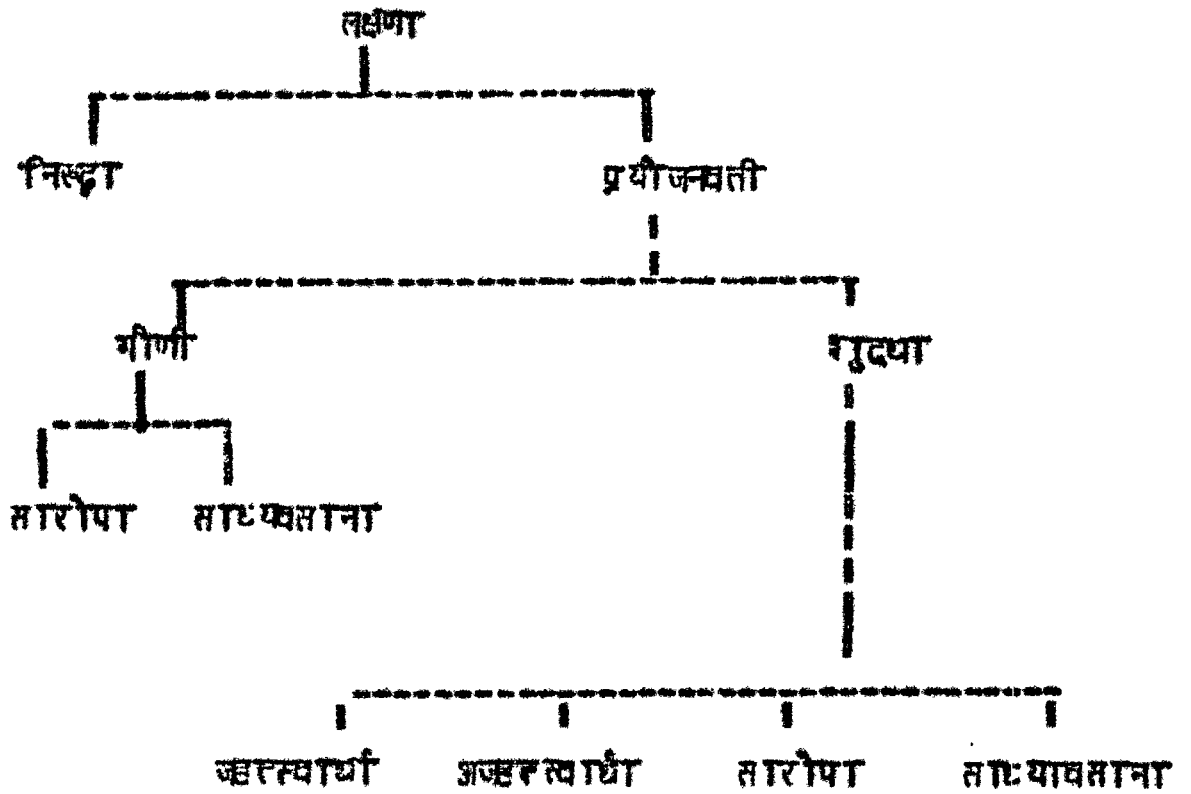
काव्यकाश की कारिकाओं के आधार पर लक्षणा का विशाजन इस प्रकार से भी शक्य है ---



यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त दोनों वर्गीकरणों में से प्रथम वर्गीकरण को प्रदीपकार- गोविन्दलक्ष्मण, द्वयंकार- विश्वनाथ, साहित्यसूत्रा त्रिंशुकार- विश्वनाथदेव आदि ने अपनी स्वीकृति प्रदान नहीं की । इनकी मान्यता है कि जिस प्रकार उपादान लक्ष्मा तथा लक्ष्म लक्ष्मा में सारोपा एवं साट्यसताना के तत्त्व पाये जाते हैं, उसी प्रकार सारोपा तथा साट्यसताना में उपादान लक्ष्मा एवं लक्ष्म लक्ष्मा के भाव विद्यमान हैं । अतः इसी साङ्ख्य में वेदों के लिए टीकाकारों ने लक्ष्मा का दूसरे प्रकार से विभाजन किया- लक्ष्मा दो प्रकार की है-- शुद्धा और गौणी । प्रथम के दो भेद- उपादान लक्ष्मा तथा लक्ष्म लक्ष्मा, पुनः इन दोनों को तथा गौणी को भी सारोपा तथा साट्यसताना भेद से विभाजित कर प्रयोज्यसती को अष्टविधा विभाजित किया। इस विभाजन में साङ्ख्य में दौध का परिहार हो जाता है। जो श्री घटसत्तात्मन भट्टाचार्य- कृत काट्यपरिक्षा में विवेचित किया गया है । परन्तु श्री गडकर, गङ्गुदन शास्त्री, श्री निवात शास्त्री आदि आधुनिक विद्वानों ने प्रथम विभाजन को ही स्वीकारा है, क्योंकि वेद-में साङ्ख्य दौध भी मानते हैं ।

आचार्य पंडितराज जगन्नाथ ने अपने ग्रंथ " रत्नमोक्ष " में लक्ष्मा के निरुद्धा लक्ष्मा और प्रयोज्यसती लक्ष्मा दो प्रकार स्वीकार किये हैं । निरुद्धा और प्रयोज्यसती लक्ष्मा में से प्रयोज्यसती के दो प्रकार गौणी तथा शुद्धा नाम से अभिहित किये हैं । अग्रे फिर गौणी के दो भेद सारोपा, साट्यसताना तथा शुद्धा के चार भेद- जटत्वार्य, अजटत्वार्य, सारोपा और साट्यसताना हो जाते हैं । इस प्रकार पंडितराज जगन्नाथ ने लक्ष्मा के सात भेद स्वीकार किये हैं । यदि निरुद्धा के भी गौणी और शुद्धा दो भेद

स्वीकार किये जायें तो लक्षणा के आठ भेद माने जा सकते हैं, किंतु पंडितराज द्वारा द्रव्यहृत¹ आमनन्ति² पद से यह सिद्ध है कि इस प्रकार के आठ भेद इन्हें अभिमत नहीं हैं। गजेन्द्र गडकर ने भी पंडितराज द्वारा मान्य भेदों का ही उल्लेख किया है जो इस प्रकार है -



उपादान लक्षणा। लक्ष्म-लक्षणा।

डॉ० प्रेम स्वस्व जी गुप्त ने 'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' नामक पुस्तक में लक्षणा के शुद्धा एवं गौणी दो भेद करते हुए लक्षणा के कुल आठ भेद पंडितराज के मत के अनुसार स्वीकार किये हैं। डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी निस्तदा के भेद करने के पक्षमाती नहीं है।³

1- इयं तावदष्टविधा निस्तदा प्रयोजनवती च । तत्रापि द्वितीया द्विविधा गौणी शुद्धा च । तत्रापि सारोपा साध्यवसाना चेति द्विविधा । अन्त्या चतुर्विधा- जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था, सारोपा, साध्यवसाना चेति प्रयोजनवती षड्विधा सम्पद्यते ।... निस्तदाया मपि गौणीत्वशुद्धत्वाभ्यामष्टविधक्यामनन्ति ।।

2- रस गंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन डॉ० प्रेम स्वस्व गुप्त, पृ० 287

3- लक्षणा और उसका हिंदी काव्य में प्रसार-डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० 259

लक्षणा के प्रमुख भेदों का विवेचन

=====

विभिन्न आचार्यों ने लक्षणा के भेद और उपभेदों का वर्णन भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। लक्षणा के दो मूल भेद-रुद्धि तथा प्रयोजनवती सर्व-सम्मत हैं। रुद्धि के भेद केवल जयदेव, विश्वनाथ आदि कतिपय आचार्य ही स्वीकार करते हैं। प्रयोजनवती-लक्षणा के शुद्धा और गौणी में दो भेद सभी मुख्य आचार्यों को मान्य हैं। अधिकतर आचार्यों ने प्रयोजनवती-शुद्धा लक्षणा के चार भेद किये हैं। * लक्षणा तेन षड्विधा की टीकाकारों ने अपने-अपने अनुसार व्याख्या की है। प्रयोजनवती और गौणी लक्षणा के तारोपा एवं साध्यत्वाना दो भेद करके ये आचार्य शुद्धा एवं गौणी को मिलाकर लक्षणा का षड्विधात्व स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर प्रयोजनवती-गौणी को भी विश्वनाथ आदि कतिपय आचार्य उपादान-लक्षणा एवं लक्षण-लक्षणा के भेद से द्विधा विभाजित कर पुनः इन दोनों के तारोपा तथा साध्यत्वाना दो-दो भेद कर गौणी का भी चातुर्विध्य स्वीकार करते हुए लक्षणा को अष्टधा विभाजित करते हैं।

पंडितराज ज्ञाननाथ आदि कुछ आचार्य उपादान-लक्षणा, लक्षण-लक्षणा, को जहदत्त्वार्था, जहदत्त्वार्था नाम से अभिव्यक्त करते हैं। वेदान्तियों द्वारा प्रवर्तित जहदजहदत्त्वार्था- नामक लक्षणा के एक अन्य भेद को नव्य वैयाकरण प्रयोजनवती लक्षणा के भेदों के अन्तर्गत ही मानते हैं। अप्यय दीक्षित आदि आचार्य भी इस भेद को मानते हैं। इस भेद को मानने के कारण फलवती लक्षणा सप्तविधा हो जाती है। इन प्रमुख भेदों में से कुछ का परिचय इस प्रकार है -

रुद्धि लक्षणा

-----लक्षणा के आवश्यक तत्वों में रुद्धि अथवा प्रयोजन में से एक का होना आवश्यक है। इस आधार पर ही लक्षणा के रुद्धि और प्रयोजन दो भेद हो

हो जाते हैं । यहाँ सर्वप्रथम रुढ़ि लक्षणा का विवेचन प्रस्तुत है -

लक्षणा के लिए तीन हेतुओं का होना आवश्यक है । तीसरा हेतु रुढ़ि। लोकप्रसिद्धि। अथवा प्रयोजन को माना गया है । वस्तुतः जब रुढ़ि। प्रचलित परम्परा। के कारण मुख्यार्थ को छोड़कर अन्यार्थ की प्रतीति होती है, तब वहाँ रुढ़ि लक्षणा होती है जैसे- कर्लिंग, साहसिकः" कर्लिंग साहसी है । यहाँ कर्लिंग शब्द में लक्षणा है । क्योंकि कर्लिंग कोई व्यक्ति नहीं है जिसे कि साहसिक कहा जाये । वह तो एक देश विशेष है । अतः लक्षणा-शक्ति से कर्लिंग का अर्थ कर्लिंग का निवासी व्यक्ति लिया जाता है । कर्लिंग निवासी को कर्लिंग कहना एक प्रकार की रुढ़ि है । अतः उपर्युक्त उदाहरण रुढ़ि लक्षणा का है ।

"काव्यप्रकाश" के टीकाकार "वामन-ब्रह्मीकार" ने रुढ़ि को लक्ष्यार्थ विरहित मानते हुए, साक्षात् ही शब्द-बोध के जनक ज्ञान को रुढ़ि कहा । यहाँ पदार्थस्थिति समकाल ही रुढ़ि से शब्द-बोध हो जाया करता है । यथा- तिलविकार भूत, द्रव्य मात्र में प्रयुक्त होने वाले तेल शब्द का तार्थ्यद्रवादि में भी प्रयोग किया जाना रुढ़ि ही माना जाता है ।¹

इस प्रकार रुढ़ि के कारण होने वाली लक्षणा रुढ़ि लक्षणा कहलाती है । कुछ आचार्यों ने रुढ़ि की एक अन्तर रूप की भी कल्पना की और उसका नाम निरुढ़ि कहना अधिक युक्तिसंगत माना । यह भी उत्प्रेक्षनीय है कि कुछ आचार्य रुढ़ि और लक्ष्णुको तथा निरुढ़ि एवं निरुद्धा को पर्यायवाची शब्दों के

1- वस्तुस्तु लक्ष्यार्थे विनाशुते शक्यार्थे प्रयोगो यस्य तादृशी पदे
यल्लक्ष्यार्थ-बोधक प्रयोग बाहुल्ये ता रुढ़िः । यथा तिलविकार द्रवमात्रे
प्रयुक्तस्य तेल शब्दस्य तार्थ्ये, इति प्रतिपादितं प्राक् ।

स्व में व्यवहृत करते हैं और कुछ अभिधा, निस्त्य और स्टा के समक्ष भेदों का भी आंकलन करते हैं ।

रुटि तथा प्रयोजन्यता लक्षणा में अन्तर

रुटि-लक्षणा तदा ही निर्व्यङ्ग्या होती है तथा प्रयोजन्यता लक्षणा तद्व्यङ्ग्या होती है ।¹ कतिपय मुकुलभट्ट, गोकुलनाथ-उपाध्याय प्रभृति आचार्य निस्त्य को तद्व्यङ्ग्या मानने के भी पक्षपाती हैं ।

आचार्य आनंदवर्धन ने बताया है कि निस्त्य-अभेदोपचार ऐसे स्थलों में होता है, जिनमें कारण न तो वाच्य रहता है और न व्यङ्ग्य । ऐसे ही स्थानों को आनंदवर्धन ने निस्त्य लक्षणा का स्थल कहा है और इसका उदाहरण माना है 'लावण्य' आदि शब्दों को । लावण्य का शाब्दिक अर्थ क्षारपन, त्वग्गता होने पर भी इस शब्द का प्रयोग अंगों के झलकते 'आव' के लिए होता है । यहाँ लावण्य कहने से 'आव' की प्रतीति होती है जो न इसका वाच्यार्थ है और न व्यङ्ग्यार्थ ही ।² आनंदवर्धन के अनुसार जहाँ तक व्यङ्ग्य का विषय है, प्रयोजनमूलक लक्षणा में ही रहता है, स्टा लक्षणा में क्षीण अर्थात् समाप्तप्राय रहता है, अतः तज्जन्य समस्कार की स्थिति भी समाप्त प्राय हो जाती है । इसी को दृष्टिगत कर ध्वनिकार स्टा-लक्षणा में व्यञ्जना की सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि जब शब्द अपने व्युत्पत्ति परक अर्थ से भिन्न विषय में स्टा हो जाते हैं तो वे शब्द लावण्य आदि शब्द की भाँति ध्वनि का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते हैं ।³

1- व्यङ्ग्यैरहिता स्तौ सहिता तु प्रयोजने ।-काव्यप्रकाश, पृ० ६७

2- आनंदवर्धन, पृ० 247

3- स्टा ये निष्पेक्ष्य शब्दाः स्वविधयादपि ।

लावण्यायाः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ।।

आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रयोजनाभाव स्थल में जहाँ उपचार की स्थिति है, ऐसे वाक्यों के विषय में निष्ठा की स्थिति मानी है। निष्ठा विषयक वर्णन से पूर्व उन्होंने कहा कि जहाँ मूलतः प्रयोजन नहीं है किन्तु उपचार है, वहाँ भी एवमन्व व्यापार क्या ? ये कहते हैं कि और भी "लावण्य" आदि जो शब्द लक्षण रखते "युक्तत्व" आदि अपने विशेष स्व स्वार्थ से अन्यत्र ह्यत्व आदि अर्थ में रूढ़ हैं, रूढ़ होने के कारण मुख्यार्थ बाध आदि त्रितय के व्यवधान से रहित हैं। क्योंकि कहा है "कुछ निरुद्ध लक्षणार्थ प्रयोग की सामर्थ्य से अभिधान के सदृश होती हैं। ये "लावण्य" आदि प्रयुक्त शब्द अपने विषय से अन्यत्र प्रयुक्त होकर भी एवमन्व के विषय नहीं होते हैं। एवमन्व व्यवहार उनमें नहीं होता है।¹

आचार्य मम्मट ने लक्षणा के उदाहरण रूप में "कर्मणि कुशलः" इस वाक्य का प्रयोग किया है लक्षणा के लिए अधिकृत तीनों तत्त्व-मुख्यार्थ बाध, तत्प्रेष तथा रुद्धि की विद्यमानता में यहाँ रुद्धि लक्षणा को माना है। "कर्मणि कुशलः" लेखन आदि कार्य में निमग्न है इत्यादि में "कुशान्वा लाति आदन्ते कुशलः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार कुशों को लेनि में कोई संबंध न होने से मुख्यार्थ में बाधा होने पर, विधेयकत्वादि सम्बन्ध होने पर, यहाँ पर "कुशल" पद दक्ष अर्थ में रूढ़ होने के कारण रुद्धि से अर्थात् प्रतिदि से मुख्यार्थवशा अमुख्य-दक्ष स्व अर्थ लक्षित होता है। दक्ष स्व अर्थ, शब्द का अव्यवहितार्थ-विषयक आरोपित शब्द का व्यापार लक्षणा है।² अपनी द्वितीय कृति शब्द व्यापार

1- एवमन्वालोक्तलोचन- पृ० 155

2- कर्मणि कुशलः" इत्यादी दर्भग्रहणाद्ययोगात् "गंगायां घीघः" इत्यादी व गंगादीनां घीघाद्याधारत्वात्सम्भवात्, मुख्यार्थस्य बाधे, विधेयकत्वादी सामीप्ये व सम्बन्धे, रुद्धितः प्रतिदे..... मुखेन अमुख्योदर्थी लक्ष्यो यत् स आरोपितः शब्द व्यापारः सान्तरार्थनिकृती लक्षणा

विचार में मम्मट ने स्टा तथा निस्टा लक्षणा को वर्णित किया है। उन्होंने निस्टा के उदाहरण के रूप में " अनुलोम ", " प्रतिकूल " आदि पद दिये और कहा कि यह लक्षणा सही होती है जहाँ वाच्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ में ही वाचक शब्द अभिधावत् स्त हो जाता है ।¹

आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के अतिरिक्त काव्यप्रकाश की दर्पण नामक टीका में स्टा लक्षणा का विवेचन किया है । इन्होंने इन दोनों ही ग्रंथों में मम्मट प्रोक्त " कर्मणि कुशलः " स्टा-विषयक इस उदाहरण का खण्डन करते हुए अपना " कलिंग साहित्यिकः " उदाहरण दिया है ।²

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इस विषय में दिये गये उनके तर्क टीपिकाकार घण्टीदास से अनुप्राणित होकर ही प्रवर्तित हुए हैं । आचार्य विश्वनाथदेव ने श्री दर्पणकार का अनुसरण किया है ।³ अधिकांशतया विद्वज्जनों की यही धारणा बनी हुई है कि " कर्मणिकुशलः " में स्तालक्षणा विषयक खण्डन सर्वप्रथम दर्पणकार विश्वनाथ ने किया है, परन्तु उक्त टीकाओं के देखने से यह सिद्ध हो जाता है कि दर्पणकार ने उक्त विषय की टीका का विषय न बनाकर मूल ग्रंथ का विषय बना दिया । अतः यह तर्क विश्वनाथ के नाम से ही उन्हीं का प्रयत्न समझा जाने लगा ।

पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार - आरंभकाल से व्यवहार में आ जाने के कारण जब किसी लक्ष्यार्थ में पद की शक्तिवृत्ति निश्चित हो जाती है,

1- निस्टा काय नान्या.....।

अनुलोम प्रतिकूलादिशब्देषु कायन सा वाच्यमर्थ

परिहृत्य लक्ष्य एवार्थं वाचकवन्निस्टा ।

-- शब्द व्यापार विचार, पृ० 23

2- काव्यप्रकाश, सटीक, टीका विश्वनाथ, पृ० 18

3- साहित्यसुधासिंधु, पृ० 39

तब निश्चय लक्षणा होती है । इसके उदाहरण के रूप में उन्होंने अनुकूल, प्रतिकूल, अनुलोम, प्रतिलोम, लाघव्य और नीलादि पद दिये हैं । " धर्मस्यायमनुकूलः " इत्यादि वाक्यों में अनुकूल आदि पद से अनुगुण, अनुगामी आदि अर्थ, रुढ़ि से लक्षित होते हैं । इसी प्रकार नीलादि पदों से नील-पद वाच्यार्थ में गुण का वाचक है परन्तु व्यवहार के कारण गुणी में उसकी लक्षणा रूढ़ हो गयी है ।¹

प्रयोजनवती शब्दाख्य गीणी लक्षणा =====

प्रयोजनवती लक्षणा वह है जिसमें किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए लक्षणा की जाये । यथा- गंगायां घीबः अर्थात् अहीरों का गाँव गंगा में है । लेकिन गंगा प्रवाह में घर होने पर तो वह बह जायेगा । अतः यहाँ मुखयार्थ में व्यवधान उपस्थित हो गया । यदि लक्षणा शक्ति से गंगा से गंगा तट का अर्थ लिया जाये तो मुखयार्थ की बाधा हट जाती है। गंगा में घर रहने का वक्ता का विशिष्ट प्रयोजन है- घर की शीतलता एवं पवित्रता बताना । यदि गंगा में की जगह गंगा तट कह दिया जाये तो ये बातें उस अतिशय के साथ प्रतीत नहीं होती, क्योंकि पवित्रादि धर्म गंगा के प्रवाह के हैं जो तट में संभव नहीं । कामायनी का एक उदाहरण प्रस्तुत है -

"तहरोँ व्योम घुमती उठती, ज्यलारं असंख्य, नवती
गरल जल की छड़ी झड़ी में, छूँ निज संसृति रखती" ।²

उप्युक्त उदाहरण में तहरों के व्योम घुमने में लक्षणा है । तहरों के लिए जो कि निजीय है, उनका व्योम घुमन असंभव है । अतएव वाच्यार्थ में प्रत्यक्ष विरोध उपस्थित हो जाता है। लक्षणा शक्ति द्वारा इसका अर्थ मुखयार्थ अर्थात् घुमन से ही सम्बद्ध "स्पर्श" अर्थ लिया गया है ।

1- रस गंगाधर, पृष्ठ 152-53

2- कामायनी, जयशंकर प्रसाद,

यूँकि स्पर्श के द्वारा कवि सहरों की भयंकरता को सूचित करता है। सागर की उत्तापित तरंगों की ऊँचाई एवं भयंकरता की सिद्धि ही प्रयोजन है। अतः प्रयोजन-वती लक्षणा है।

आचार्यों की मान्यता के अनुसार उपचार के आधार पर प्रयोजनवती लक्षणा के गौणी और शुद्धा दो भेद होते हैं। गौणी में उपचार अर्थात् साधर्म्य पाया जाता है। परन्तु शुद्धा में उसका अभाव रहता है। प्राचीन मीमांसक लक्षणा और गौणी को दो पृथक् वृत्तियों के रूप में मानते थे। इन अतीत के तथ्य को आज भी विद्वान अपने ग्रंथों में उल्लिखित करना नहीं भूलते हैं।¹ अधिकांशतया काव्यशास्त्र के आचार्यों ने लक्षणा और गुणवृत्ति को एक ही वृत्ति के अन्तर्गत रखते हुए उन्हें एक ही परिभाषा से परिभाषित करके शुद्धा और गौणी लक्षणा के दो भेदों के रूप में उनके स्वल्प को निर्दिष्ट किया है।²

सादृश्य -मूलक लक्षणा को आलंकारिक गौणी लक्षणा नाम से समुच्चरित करते हैं। अतः जिसमें सादृश्य सम्बन्ध से अर्थात् समान गुण या धर्म के कारण लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाता है, उसे गौणीलक्षणा कहते हैं। अर्थात् गौणी लक्षणा में मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के बीच सादृश्य या समानगुण या धर्म का सम्बन्ध होता है जैसे- सिंहो माणवकः, "गौर्वाहीकः" आदि। प्रथम में सिंह शब्द "गौणी वृत्ति से गौर्यादि विशिष्ट प्राणी का बोध होता है और उसका माणवक पद के साथ सामानाधिकरण्य होता है। " गौर्वाहीकः" यहाँ पर बल के गुणों के योग

1- गौणी तु स्वतन्त्रता वृत्तिः। अभिधातो लक्षणातश्च विलक्षणा इति

वेदवादिनां मीमांसकानां सिद्धान्तः।

2- सादृश्य तत्त्व समीक्षा-नरेन्द्रनाथ चौधरी, पृष्ठ 87

बदरीनाथ सिंह, पृष्ठ 265

से गौणी वृत्ति कही जायेगी क्योंकि लक्ष्यमाण गुणों के योग से होने वाली वृत्ति को गौणी कहा जाता है ।

एक अन्य उदाहरण "मुख चन्द्रमा है" दिया जा सकता है इसमें मुख और चन्द्रमा के भिन्न पदार्थ होने के कारण मुखार्थ में व्यवधान उपस्थित हो जाता है । मुख चन्द्रमा नहीं हो सकता परन्तु गौणी लक्षणा के द्वारा दोनों में सादृश्य संबंध स्थापित हो जाने पर यह अर्थ होता है कि मुख चन्द्रमा के समान है । वस्तुतः आह्लादकता या आनंद देने की शक्ति के समान स्व से दोनों में विद्यमान होने के कारण ही मुख को चन्द्रमा के समान कहा गया है ।

मुखार्थ और लक्ष्यार्थ का संबंध कई प्रकार का होता है- इनकी संख्या शताधिक मानी जाती है जिनमें प्रमुख हैं- सामीप्य, सादृश्य, अंगानिर्भाव, तात्कर्म्य, तद्वदर्थ तथा त्वामिश्रत्यभाव सम्बंध । इन्हीं सम्बन्धों के आधार पर लक्षणा के दो भेद किये जाते हैं ।

सादृश्य संबंध गुणों के आधार पर होता है । वाच्यार्थः मुखार्थः । और लक्ष्यार्थ में गुण मध्यवर्ती रहता है । अतः यह संबंध गूढ़ न होकर गुण की मध्यस्थता से बनता है सादृश्य गुणों के आधार पर बनता है अतएव गौणी नाम पड़ा है । इसी को उपचार नाम से भी जाना जाता है । उपचार का अर्थ है-¹ दो पदार्थों में विद्यमान भिन्नता या भेद प्रतीति को दूर करना । गौणी का आधार उपचार ही होता है ।

प्रयोजनवती-गूढ़ा-उपादानलक्षणाः अजहत्त्वार्थाः
=====

गूढ़ा लक्षणा उसे कहते हैं जिसमें सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ का बोध होता है । यथा " गगायां घोषः " में गंगा से तट

1.- उपचारी हि नाम अत्यन्तं विशाकलितयोः सादृश्यातिशाय महिम्ना-

भेदप्रतीतिस्थानमात्रम् ।

-साहित्यदर्पणः परिच्छेद-2, पृष्ठ 67

लक्ष्यार्थ लिया जाता है। दोनों में सामीप्य संबंध है जिसमें गुण की मध्यस्थता नहीं है। श्रुद्धा के दो भेद हैं- उपादान लक्षणा और लक्षणा लक्षणा।¹ यहाँ प्रयोजनवती श्रुद्धा के प्रथम उपादान लक्षणा भेद को विवेचित किया जा रहा है। आचार्यों ने इस उपादान लक्षणा को अजहत्स्वार्थ, अजहत्लक्षणा आदि नामों से भी पुकारा है।

लक्षणा में तदैव मुख्यार्थ का त्याग होता है अतः मुख्यार्थ का तिरस्कार उत्तम कदा तक पाया जाता है। इस दृष्टि से लक्षणा के दूसरे ढंग से भेद किये जाते हैं। एक भेद तो यह है जिसमें मुख्यार्थ का पूर्णस्मरण तिरस्कार नहीं होता है। वहाँ मुख्यार्थ के साथ ऊपर से कुछ और भी जोड़ दिया जाता है तथा शब्द अपने मुख्य अर्थ को भी नहीं छोड़ता। अजहत्, तथा दूसरे अर्थ का ग्रहण। उपादान करता है, अतः इसे उपादान लक्षणा, अजहत्लक्षणा। कहते हैं। इसी उपादान की मम्मट-प्रभृति आलंकारिकों ने उपादान लक्षणा, धेयाकरणी, अजहत्स्वार्थ, धेयाधिकी एवं वेदान्तियों ने अजहत्लक्षणा नाम से अभिहित किया।

वस्तुतः अपने अर्थ की सिद्धि के लिए जहाँ पर दूसरे अर्थ का आक्षेप किया जाये वहाँ उपादान लक्षणा होती है। यथा-“पुरे कुन्ताः प्रविशन्ति”। नगर में भाले प्रविष्ट हो रहे हैं। यहाँ पर “कुन्ता” पद अपने प्रवेश की सिद्धि के लिए स्वतंत्रयोगी-पुरुषों का आक्षेप कर लेता है अतः यहाँ उपादान लक्षणा है।²

1- उपादानलक्षणाच्च श्रुद्धा सा द्विविधोदिता।

-अभियावृत्तिमाह्वी- मुकुलधट्ट, पृष्ठ 12

2- उपादानं त्वत्तिदृष्टी पराक्षेपः। यथा-“पुरे कुन्ताः प्रविशन्ति”
अत्र कुन्तैः स्वप्रवेशात् तिदृष्टी स्वतंत्रयोगिनः पुरुषाः आक्षिप्यन्ते। ततः
उपादानेनेयं लक्षणा।

-काव्यकल्पलतावृत्ति- अमरचन्द्रपति, पृष्ठ 44

आचार्य मुकुलभट्ट ने उपादान लक्षणा के विषय में कहा है कि यह लक्षणा वहाँ होती है जहाँ अपने अर्थ की सिद्धि के लिये दूसरे अर्थ का आक्षेप कर लिया जाता है। उक्त लक्षणा के उदाहरण के रूप में भट्ट ने "गौरनुबन्धय" यह वाक्य दिया है।¹ जिसका अर्थ है कि याग में गो। घृक्ष्म। का अनुबन्धन किया जाय

आचार्य भट्ट ने उपादान लक्षणा का दूसरा उदाहरण अ पीनी देवदत्तो दिषा न भुङ्क्ते। देवदत्त स्थूल है, दिन को नहीं खाता। दिया है। यहाँ दिन में न खाने के साथ-साथ प्रतीयमान स्थूलत्व प्रतिपाद्य है। अतः वह अपनी सिद्धि के लिये, कारणभूत रात्रि-भोजन का आक्षेप के द्वारा अनात्ता है।²

आचार्य मम्मट ने यद्यपि उपादान लक्षणा का लक्षण मुकुल भट्ट के अनुसार ही किया है,³ किन्तु भट्ट प्रदत्त उपादान लक्षणा के उपर्युक्त दोनों उदाहरण उन्हें मान्य नहीं है उनके अनुसार क्योंकि यहाँ न तो कटि है और न कोई प्रयोजन ही दृष्टिगोचर होता है।

1- स्वसिद्धयर्थतयाक्षेपो यः वस्तुचन्तरस्य तत् ॥३॥ उपादानम् ।

अभिधायुत्तिमातृका, पृ० १३

अन्यथ

यः स्वसिद्धयर्थतया वस्तुचन्तरस्याक्षेपो भवति तत्रोपादानम्।

यथा "गौरनुबन्धयः" इति

वही पृष्ठ १३

2- वही, पृ० १३

3- स्वसिद्धये पराक्षेपः.....उपादानम् ।

-काव्यप्रकाश, पृ० ५३

अन्यथ

शब्दव्यापार विचार, पृ० ८

आचार्य विश्वनाथ ने बताया है कि जहाँ वाक्यार्थ में अन्वय की सिद्धि के लिए मुख्यार्थ से निम्न अर्थ का आक्षेप हो उसे निज मुख्यार्थ का भी उपादान। ग्रहण। होने से उपादान लक्षणा कहते हैं।¹ • कौओं से दही को बघाओं। काकैभ्योदधिरक्षयताम्। एक शास्त्रीय उदाहरण है। यहाँ कौर से अभिप्राय कौर के अतिरिक्त दधिभक्षक कुत्ता, बिल्ली आदि सभी का है।

प्रयोजन्यती-शुद्धा-लक्षणलक्षणा। जहत्स्वार्था।
=====

जहाँ शब्द अपने मुख्य अर्थ को छोड़। जहत्। देता है तथा केवल दूसरे लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराता। लक्षण। है, वहाँ लक्षण लक्षणा होती है। इसी लक्षणा को आलंकारिक लक्षण लक्षणा और वैयाकरण जहत्स्वार्था तथा नैयायिक एवं वेदान्ती जहत्लक्षणा नाम से समुच्चरित करते हैं। कुछ विद्वान इस लक्षण की सत्ता शुद्धा में ही मानते हैं। कुछ विद्वान लोगों की विचारधारा के अनुसार गौणी में भी इसकी सत्ता होती है।

आचार्य मम्मटानुसार- दूसरे अर्थ की सिद्धि के लिए जहाँ अपने अर्थ का परित्याग किया जाता है, वहाँ लक्षण- लक्षणा होती है।² अर्थात् जहाँ वाक्य का कोई शब्द वाक्य में प्रयुक्त दूसरे शब्द के अन्वय सिद्धि के लिए अपने

1- मुख्यार्थेत्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वय सिद्धये ।

त्यादात्मनोऽप्युपादानादेशोपादान लक्षणा ।

-- प्रयोजने यथा-कुन्ताः प्रविशन्ति । - साहित्यदर्पण, पृष्ठ 95

2- परार्थे स्वसमर्पण लक्षणम् ।

- काव्यप्रकाश, पृष्ठ 53

अर्थ का परित्याग कर अन्य अर्थ का बोधक हो जाता है, वहाँ लक्ष्य लक्षणा होती है । आचार्य विश्वनाथ ने पूरी कारिका में लक्षण-लक्षणा का लक्षण करते हुए कहा कि वाक्यार्थ में अन्वय की सिद्धि के लिए जहाँ त्व।मुख्य। को अन्य अर्थ के अर्थन कर दिया जाये, तो उसे अन्य का उपलक्षण होने से लक्षण-लक्षणा कहते हैं।¹

आचार्य विश्वनाथ ने रुटिमूल-लक्षणा के भी उपादान लक्षणा एवं लक्षण लक्षणा दो भेद माने हैं तथा रुटि मूला लक्षणमूला एवं प्रयोजन्यती-लक्षण लक्षणा के उदाहरण के रूप में क्रमशः " कलिंग ताहतिकः " । कलिंग ताहती है। गंगायां घोषः " । गंगा में जहीरों का गाँव है। दिये हैं ।² लक्षण लक्षणा का जहल्लक्षणा का एक भेद विपरीत लक्षणा है, जिसमें लाक्षणिक पद न केवल अपने मुख्य अर्थ को त्यागता है, अपितु मुख्य अर्थ के विरुद्ध अर्थ की प्रतीति कराता है । इसी संदर्भ में दर्पणकार ने एक उदाहरण दिया जो वाक्य में न होकर श्लोक में है-

बिहारी का भी एक दोहा लक्षण-लक्षणा के लिए बहुत प्रसिद्ध है-
 "क्यों बसिये क्यों निबहिये, नीति नेह पुर नाहि ।
 लगा लगी लोचन करें, नाहक मन छँदा जाहि।"⁴

1- अर्थन स्वस्य वाक्यार्थ परत्यान्वय सिद्धये ।

उपलक्षण हेतुत्वादिषा लक्षणलक्षणा ॥ 2.7 -साहित्यदर्पण, पृ० 96

2- रुटि प्रयोजनयोर्लक्षणलक्षणा । यथा- कलिंग ताहतिकः" गंगायां घोषः" इति य ।

- साहित्यदर्पण, पृ० 96

3- उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते तुजनता प्रथिता श्रवतापरम् ।

विदधदीदृशामेव तदा तथैव सुखितामास्त्व ततः शरदांशतम् ॥

4- बिहारी तत्तसई ।

इसमें आँखों का लगाव करना और मन का बंधना ये दोनों मुख्यार्थ बाधित हैं, क्योंकि न आँखें लड़ाई करती हैं और न मन बंधता है। इससे इनका लक्ष्यार्थ होता है- किसी से प्रेम होना और मन का आसक्त हो जाना । मुख्यार्थ इसमें बिल्कुल छूट जाता है अतः लक्षणा लक्षणा है ।

प्रयोजनवती-शुद्धा-जहदजहल्लक्षणा
=====

शुद्धा के दो भेदों - उपादान लक्षणा तथा लक्षणा लक्षणा का वर्णन किया जा चुका है। मुख्यतः वेदान्ती तथा कतिपय आलंकारिक आदि इन दो भेदों के सम्मिश्रणात्मक रूप की स्थिति में जहदजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा नामक लक्षणा का तृतीय भेद भी स्वीकारते हैं ।¹

वेदान्तिनों ने प्रमुख रूप से महावाक्य की संगति के लिए उक्त लक्षणा की कल्पना की है। उन्होंने इसे जहदजहल्लक्षणा² भाग लक्षणा और भाग त्याग लक्षणा ये नाम भी दिये हैं ।

शंकराचार्य ने "तत्त्वमसि", "सोऽहम्" इत्यादि में भाग लक्षणा अंगीकार की है। उनकी मान्यता है कि तत्त्वमसि इस वाक्य में "तत्त्वं" शब्द के अर्थ में "गंगायां धीमः" के समान जो जहल्लक्षणा सन्ध्या प्रकार से प्रवृत्त नहीं होती है, वैसे यहाँ "गोणी धीमतिः"। लाल रंग दीड़ता है। इस वाक्य के

1- तत्त्वमसीत्यादौ जहदजहल्लक्षणा च तृतीयेति वेदान्तिनः ।

-- भाट्टवर्धितामणि, पृष्ठ 58

अन्वयः

यदि विशिष्टवाचकः शब्द एकदेशं विहाय एकदेशे वर्तते तत्र जहदजहल्लक्षणा । यथा सोऽहं देवदत्त इति ।

-वेदान्त परिभाषा, पृष्ठ 101

समान वह जहदल्लक्षणा भी प्रसूत नहीं होती ।¹ अतः उक्त महावाक्य की सिद्धि के लिए जहदल्लक्षणा माननी पड़ती है । शंकराचार्य ने इसका लक्षण भी दिया है ।²

अप्ययदीक्षित ने जहदल्लक्षणा के उदाहरण ग्रामोदग्धः, "पुष्पितवनम्" आदि वाक्य दिये हैं । ग्राम के एक देश के जन जाने पर ग्राम जन गया है, कह दिया जाता है । यहाँ ग्रामादि पद के द्वारा ग्राम के एक देश अर्थात् अदग्ध भाग का परित्याग तथा एक देश अर्थात् दग्ध भाग का ग्रहण करने के कारण जहदल्लक्षणा है। ग्राम का अधिक भाग जन गया यह घोटन करना इसका फल है।³ इस प्रकार स्पष्ट है कि लक्ष्यार्थ के बोध में जहाँ कुछ मुख्यार्थ का त्याग और कुछ मुख्यार्थ का उपादान होता है, वहाँ जहदल्लक्षणा होती है ।

गौणी लक्षणा के सारोपा एवं साध्यस्ताना नामक दो भेद होते हैं । ये भेद शुद्धा के भी होते हैं ।

प्रयोजनवती-शुद्धा तथा गौणी-सारोपलक्षणा
=====

* आरोपेण * सह वर्तमाना सारोपा जहाँ विधयी द्वारा विधय आरोपित किया जाता है, वहाँ सारोपलक्षणा होती है अर्थात् जब मुख्यार्थ । विधयी । और लक्ष्यार्थ । विधय । दोनों का समानाधिकरण्य करते हुए एक साथ

1- सर्वविद्वान्तसिद्धान्तसारसङ्ग्रह, गौ विन्दमठ ऐङ्गीनीम वाराणसी,

पृ० 113-114

2- -सर्वविद्वान्तसिद्धान्तसारसङ्ग्रह, पृ० 116

3- वृत्तिमार्तिक, पृ० 20

ग्रहण हो तो सारोपा लक्षणा होती है जैसे- " यह मनुष्य सिंह है" यहाँ सिंह विषयी है और वीर पुरुष विषय है, दोनों का ग्रहण है। अतः आरोप हुआ, जो स्वयं अलंकार में होता है। इसी आरोप के कारण लक्षणा सारोपा कही जाती है। इसके अन्य उदाहरण हैं - " मुखं चन्द्रः पाद-पद्म आदि। चन्द्रमुख में मुख पर चन्द्रमा का या चन्द्रत्व का आरोप किया गया है अथवा मुख को चन्द्र से अम्भेद। अभिन्न। मान लिया गया है। " पाद-पद्म" में पाद। पैरों। पर पद्म। कमल। का आरोप है। अतः, सारोपा लक्षणा है।

आचार्य मम्मट ने बताया है कि जहाँ विषय और विषयी। आरोप्यमाण उपमान, आरोप-विषय उपमेय। दोनों को ही शब्द के द्वारा प्रकट किया जाये वहाँ पर सारोपा-लक्षणा होती है।¹ यथा- " आयुर्वृत्तम्, "गौर्वाहीकः" में विषय एवं विषयी दोनों ही शब्दोपमान्त हैं। इसमें पहला उदाहरण शुद्ध सारोपा का है और दूसरा उदाहरण गौणी-सारोपा का है।

प्रयोजनवती-शुद्ध तथा गौणी-साध्यवसाना लक्षणा
=====

साध्यवसाना लक्षणा में विषयी। उपमान।, विषय। उपमेय। का निगमन कर लेता है।² इस साध्यवसाना लक्षणा में उपमान द्वारा ही उपमेय का प्रतिपादन होता है। इस कारण इसमें उपमेय तथा साध्यवसाना धर्म के उल्लेख की आवश्यकता ही नहीं होती है इसके बिना ही उपमेय और उपमान दोनों में अम्भेद प्रतीति की जाती है।

1- सारोपान्या तु कोक्ती विषयी विषयस्तथा ।

-काव्यप्रकाश, पृष्ठ 61

2- विषययुक्तः कृतोऽपस्मिन्न सा त्यात् साध्यवसानिका

काव्यप्रकाश- 2. 11, पृष्ठ 61

जब विषयी का ही वाक्य में ग्रहण हो और विषय उन्नी में लीन जान पड़े तो इस स्थिति को 'साध्यस्ताना' कहा जाता है। इसी को विषयी।उपमाना द्वारा विषयी।उपमेय का निगमन।न्यायन। भी कहते हैं। यथा— किसी वीर पुरुष को देखकर कहा जाय- सिंह आ रहा है, तो 'सिंह' विषयी में ही 'वीरपुरुष' विषय लीन कर लिया गया है। अतः साध्यस्ताना लक्षणा है। दूसरा उदाहरण जो कहा जाय कि 'देखो घाट का दुकड़ा' यहाँ घाट या विषयी के द्वारा मुख का ज्ञान होने से इस वाक्य में साध्यस्ताना लक्षणा है। विषय या मुख का कथन न कर यहाँ केवल विषयी या घाट का कथन किया गया है और घाट के द्वारा मुख का ज्ञान हो जाता है। प्रायः स्वकातिशयोक्ति के मूल में साध्यस्ताना लक्षणा होती है।

सारोपा की तरह साध्यस्ताना भी गोणी एवं गुदा भेद से दो प्रकार की होती है। 'गौरयम्', 'गौरज्यति' इत्यादि वाक्यों में आरोप विषय वाहीक का शब्दतः उपादान नहीं है, फिर भी यहाँ एक सादृश्य है, अतः सादृश्य-मूकत्वात् उक्त उदाहरण गोणी लक्षणा के अन्तर्गत माने गये हैं। इसके अतिरिक्त गोणी साध्यस्ताना के उदाहरण 'सिंहोडयम्', 'गोः पठति', 'चन्द्रोडयम्', 'गोपाठय' आदि हो सकते हैं।

गुदा- साध्यस्ताना के उदाहरण 'अमृतं पिबामि', 'आयुरेवेदम' इत्यादि वाक्यों में आरोप विषय घृत का शब्दतः उपादान नहीं किया गया है फिर भी कार्य कारण भाव संबंध। सादृश्यतर संबंध। होने के कारण गुदा साध्यस्ताना के उदाहरण हैं, क्योंकि गुदा-साध्यस्ताना में आरोप विषय का शब्दतः कथन नहीं होता है, यह विषयी में ही अन्तर्हित रहता है।

विश्वनाथ आदि कुछ आचार्य गूढ़ा साधकत्वाना के उपर्युक्त उदाहरण को उचित नहीं मानते हैं, उनकी दृष्टि में इसके लिए, " आयुः पिबामि" वाक्य को व्यवहृत करना अधिक संगत है, क्योंकि उक्त उदाहरण में " इदम्" शब्द के कारण द्रुत-स्थ विषय, पूर्ण स्थ से अन्तर्हित नहीं माना जा सकता है, अतः द्रुत के लिए प्रयुक्त वाक्य आयुः पिबामि। जीवन ही पीता हूँ। १ जीवन के कारण भूत-द्रुत का शब्दतः कथन न होने के कारण गूढ़ा साधकत्वाना का समीचीन उदाहरण माना गया है ।

- - -

व्यंजना शब्द शक्ति =====

अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त तृतीय शब्द व्यापार व्यंजना है । मुकुलभट्ट और उनसे पूर्व शब्द व्यापार पर विचार करने वाले मीमांसा, न्याय अथवा व्याकरण शास्त्र के आचार्यों ने व्यंजना वृत्ति को स्वीकार नहीं किया है । व्यंजनावृत्ति का सर्वप्रथम विवेचन कब और किसने किया था ? प्रमाणों के अभाव में इसका उत्तर दे सकना संभव नहीं है । किंतु इस शब्द व्यापार का व्यवस्थित रूप हमें आनंदवर्धन के ध्वन्यालोक में प्राप्त होता है । आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा भारती और लोचन में तथा मम्मट द्वारा काव्यप्रकाश में प्रकृत तर्कों के द्वारा इसका पोषण करने के बाद व्यंजना व्यापार को भी शब्द शक्ति के रूप में पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी है। किंतु इसे एक संयोग ही कहा जायेगा कि अप्ययदीक्षित का वृत्तिवार्तिक, जहाँ अभिधा एवं लक्षणा के साथ ध्वनय अर्थात् व्यंजना व्यापार की विवेचना करने की ग्रन्थारंभ में प्रतिष्ठा हुई है, केवल लक्षणा विवेचनान्त ही मिलता है। उसका व्यंजना-व्यापार विवेचन विषयक अंग अब तक लुप्त ही है ।

व्यंजना व्यापार की आवश्यकता के सन्दर्भ में - व्यंजना की अभिधा एवं लक्षणा से भिन्न वक्तव्य के लिए आनंदवर्धन आदि आचार्यों ने कुछ स्थितियों की चर्चा की है जो इस प्रकार हैं -

अभिधा व्यापार केवल वही अर्थ बोध कराता है जहाँ पद और पदार्थ के बीच सकेत विद्यमान हो तथा लक्षणा व्यापार केवल मुख्यार्थ बोध की स्थिति में मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ का बोध कराता है, साथ ही यह भी अत्यावश्यक है कि वह अर्थ या तो रूढ़ हो अथवा लक्षक पद द्वारा लक्षणा द्वारा अर्थ बोध

कराने का कोई प्रयोजन विशेष हो जबकि व्यंजना व्यापार के लिए इन अनेक परिस्थितियों में से किसी को भी अपेक्षा नहीं होती । न इसके लिए कोई पूर्व संकेत अभीष्ट है और न मुख्यार्थ बाध की, और न मुख्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ के बीच सम्बन्ध विशेष की ही अपेक्षा होती है । व्यंग्यार्थ मुख्यार्थ से सम्बद्ध भी हो सकता है और असम्बद्ध भी हो सकता है । इसके लिए न लोक प्रतीतिः रुद्धिः की अपेक्षा होती है और न किसी प्रयोजन विशेष की । फिर भी यदि व्यंग्य अर्थ की प्रतीति के लिए किन्हीं परिस्थितियों की पूर्ति करना चाहें तो कह सकते हैं कि कभी वक्ता का वैशिष्ट्य व्यंग्यार्थ की प्रतीति में सहायक होता है, तो कभी श्रोता का वैशिष्ट्य । बौद्धिक वैशिष्ट्य, कभी वाक्यान्तर सन्निधि सहायक के रूप में देवी जा सकती है, तो कभी वाक्यान्तर सन्निधि कभी प्रकरण सहायक होता है तो कभी देश और काल । तात्पर्य यह है कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति में सहायक परिस्थितियाँ अनियत हैं, अपरिमित हैं । वाच्य और लक्ष्य अर्थ सदा ही नियत आदि निश्चित रहा करता है, किन्तु व्यंग्यार्थ सदा ही अनियत रहता है। वह असीम होता है, सीमा में आबद्ध नहीं होता । साहित्यदर्पणकार ने व्यंजना के संदर्भ में बताया है कि अभिधा तथा लक्षणा शक्तियाँ जब अपना-अपना अर्थ बोध करा के विरत शान्ति हो जाएँ तब जिस शक्ति से व्यंग्यार्थ का ज्ञान हो उसे व्यंजना कहते हैं ।¹

व्यंजक शब्द "वि" उपसर्ग पूर्वक "अञ्ज" धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है-त्यस्त करना, प्रगट करना, व्यक्त करना, खोलना आदि । इसी से व्यंजक अभिनय का वाचक है ।² जिस धातु से व्यंजक शब्द बना है

1- विरतास्यभिधायास्तु यथार्थं बोध्यते पर :।

सा धृतिः व्यंजनानाम् शब्दस्याधीतिकस्य च ।।-साहित्यदर्पण, 2/12-13

2- व्यंजकाभिनयो समी ।- अमरकोष

उसी धातु से प्रत्यय भेद करके व्यंजना शब्द भी बना है । इसमें वि जना अंजन दो शब्द हैं । " वि " का अर्थ है और अंजन का अर्थ है- अग्नि में लगाने वाला अंजन । सामान्यतः अन्जन का प्रयोग भस्म की ज्योति बढ़ाने के लिए होता है, पर व्यंजना में विशेष प्रकार का अंजन रहने से अकटित अर्थ को प्रगट करने की क्षमता होती है । शब्द शक्ति का वाचक होने से इसका स्त्रीलिंग रूप " व्यंजना " है । व्यंजना व्यापार के द्वारा छिपा हुआ गुह्य रहस्य प्रकटित होता है । अभिधा एवं लक्षणा शक्तियों के द्वारा अकटित अर्थ को व्यक्त करने के कारण ही इसे काव्यशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है ।

व्यंग्यार्थ का ज्ञान न तो अभिधा शक्ति द्वारा होता है और न लक्षणा के ही द्वारा । इसलिये काव्यशास्त्रियों ने एक के ऐसी शक्ति का निरूपण किया जो व्यंग्य अर्थ को बता सके । यह शब्द एवं अर्थ दोनों में होती है जबकि अभिधा और लक्षणा का क्षेत्र केवल शब्द है । अतः व्यंजना का क्षेत्र अपेक्षाकृत विस्तृत है ।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार अभिधा शक्ति के द्वारा जो अर्थ प्रकटित होता है, उसी में तद्दृश्य प्रोक्ता अपनी प्रतिभा के द्वारा नवीन अर्थ का उद्भावन करता है । इसी अर्थ को व्यक्त करने वाली शक्ति व्यंजना होती है । जिन शब्दों के द्वारा वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ प्रगट होता है उन्हें व्यंजना कहा जाता है और उनसे प्रगट होने वाला अर्थ व्यंग्यार्थ कहलाता है ।

शब्द, बुद्धि और कर्म तीनों ही नियत क्षण स्थायी हैं- उत्पन्न होकर नियत काल तक ही रह सकते हैं । अर्थात् तीनों का व्यापार एक

ही बार होता है । एक बार उच्चरित होने पर शब्द एक ही बार अपना अर्थ प्रकट कर सकता है, अनेक बार नहीं । इसी तरह अभिधा द्वारा वाक्यार्थ को प्रकट करके हट जाने पर एवं लक्षणा व्यापार के लक्ष्यार्थ को प्रकट कर गति हो जाने से पुनः शब्द का व्यापार संभव नहीं हो सकता । अतएव अन्य अर्थ को प्रकट या व्यक्त करने के लिए तृतीय शक्ति की आवश्यकता पड़ती है और वह शक्ति व्यंजना ही है। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है- "गंगा में घर है" इस वाक्य में अभिधा शक्ति द्वारा उत्पन्न वाक्यार्थ से जब अन्वय बोध नहीं होता तब इस स्थान पर लक्षणा शक्ति आकर तटस्थ लक्ष्यार्थ लक्षित करती है- जिससे वाक्यार्थ संगत होता है। लक्षणा द्वारा लक्ष्यार्थ के बोध होने के अनंतर भी इसका एक और अर्थ सूचित होता है- घर के शीतल और पावन होने की अधिकता । अन्वया " गंगा के किनारे घर है" यही कहना पर्याप्त होता । इस अर्थ को सूचित करना लक्षणा-शक्ति का काम नहीं । क्योंकि यह अपना तटस्थ अर्थ बोधित करके विरत हो चुकी है । यह व्यंजना शक्ति का काम है जिसके द्वारा यह व्यंग्य अर्थ प्रतीत होता है । इसी प्रसङ्गा के कारण आचार्य अभिनवगुप्त ने काव्य में व्यंग्य अर्थ की प्रतीति के लिए व्यंजना शक्ति की आवश्यकता का अनुभव करते हुए कहा है कि अभिधा लक्षणा एवं तात्पर्य से सर्वथा पूर्ण घीघा व्यापार मानना ही पड़ेगा और इसे दधन, घोतन, प्रत्यायन, अवगमन आदि शब्दों से निरूपित किया जा चुका है।²

1- शब्दबुद्धिकर्मणा विरम्य व्यापाराभावः

2- तस्मात् अभिधातात्पर्यलक्षणा व्यतिरिक्तः

चतुर्थोऽतो व्यापारो दधनघोतनव्यंजनप्रत्यायन अवगमनादि... ।

लोचन, पृ० 115

अभिधा और लक्षणा के साथ व्यंजनास्वरूप पर विचार करने से इसकी तीन विशेषताएं प्रकट होती हैं -

।क। अभिधा में एक साथ एक ही अर्थ निहित रहता है तथा लक्षणा में एक अर्थ की परिणति अन्य अर्थ के रूप में हो जाती है, पर व्यंजना में एक ही साथ दो अर्थ निहित होते हैं और द्वितीय अर्थ को व्यंग्यार्थ कहा जाता है। यह द्वितीय अर्थ मुखार्थ के अतिरिक्त स्वयं उतने भिन्न होता है।

।ख। लक्षणा व्यापार में वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ परस्पर एक दूसरे के सहायक होते हैं पर व्यंजना में मुखार्थ तथा लक्ष्यार्थ दोनों ही अर्थ सर्वथा स्वतंत्र होते हैं।

।ग। व्यंजना का सम्बन्ध प्रकरण विशेष से होता है।

उपरोक्त विशेषताओं के आधार पर डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने व्यंजना को इस प्रकार परिभाषित किया है-

“ व्यंजना भाषा की वह शक्ति है जिसके कारण किसी प्रकरण या प्रसंग विशेष में एक साथ अनेक स्वतंत्र अर्थों की अभिव्यक्ति या प्रतीति होती है।”¹ आचार्य मम्मट ने कहा है कि व्यंग्य अर्थ को समझने के लिए प्रतिभा की विमलता, चतुर व्यक्तियों का साहचर्य और प्रकरण ज्ञान आदि अत्यंत आवश्यक हैं।² इसके बिना व्यंग्यार्थ की यथार्थता समझ में नहीं आती।

1- साहित्य विज्ञान, पृ० 290

2- प्रज्ञा-नैर्मल्य-वेदगद-प्रस्तावादि- विद्यायुजः।

अभिधा-लक्षणा-योगी व्यंग्योद्घर्षः प्रथितो ध्वनेः ॥

-शाब्दव्यापार विचार

आचार्य नागेश कहते हैं कि वक्ता, श्रोता, वाच्यार्थ का वैशिष्ट्य एवं प्रतिभा व्यंग्यार्थ ज्ञान या प्रतीति के तहाफ़ माने गये हैं ।¹

व्यंजना शब्द शक्ति के भेद

=====

आचार्य आनन्दवर्धन एवं अभिनव गुप्त आदि ने व्यंग्य अर्थ के निम्न-लिखित भेद किये हैं -²

अभिधामूलक अर्थात् विवक्षितान्वयरवाच्य एवं लक्ष्यमूलक अर्थात् अविवक्षित वाच्य । अविवक्षित वाच्य के सामान्यतः केवल दो प्रकार स्वीकार किये जाते हैं - अर्थान्तर संक्रमित और अत्यंत तिरस्कृत । विवक्षितान्वयरवाच्य के प्रथम दो भेद स्वीकार किये गये हैं - संलक्ष्यक्य व्यंग्य और असंलक्ष्यक्य व्यंग्य। असंलक्ष्यक्य व्यंग्य अर्थ रस आदि हुआ करता है, जो रस भाव आदि तथा उनके विभाव, अनुभाव आदि के भेद से अनंत प्रकार है । जिनकी गणना संश्लेष नहीं है, अतः उसे एक प्रकार का ही माना जाता है । संलक्ष्यक्य व्यंग्य के प्रथम तीन प्रकार स्वीकार किये जाते हैं - शब्दशक्ति मूलक, अर्थशक्ति मूलक एवं उभय-शक्ति मूलक । शब्दशक्ति मूलक व्यंग्य अर्थ के केवल दो प्रकार हैं- वस्तु व्यंग्य एवं अलंकार व्यंग्य । अर्थ शक्ति मूलक व्यंग्य अर्थ के तीन प्रकार हैं- स्वतः संश्लेषी, कविप्रोदोपित सिद्ध एवं कवि निबद्धवस्तुप्रोदोपित सिद्ध। एवं इन तीन भेदों में से प्रत्येक में पुनः निम्नलिखित चार-चार प्रभेद हो जाते हैं -

1- वक्त्रादिवैशिष्ट्य ज्ञानप्रतिभायुद्बुधः संस्कार विशेषी व्यंजना -
मंजूषा- नागेश । काव्यालोक, पृ० 133 से उद्धृत।

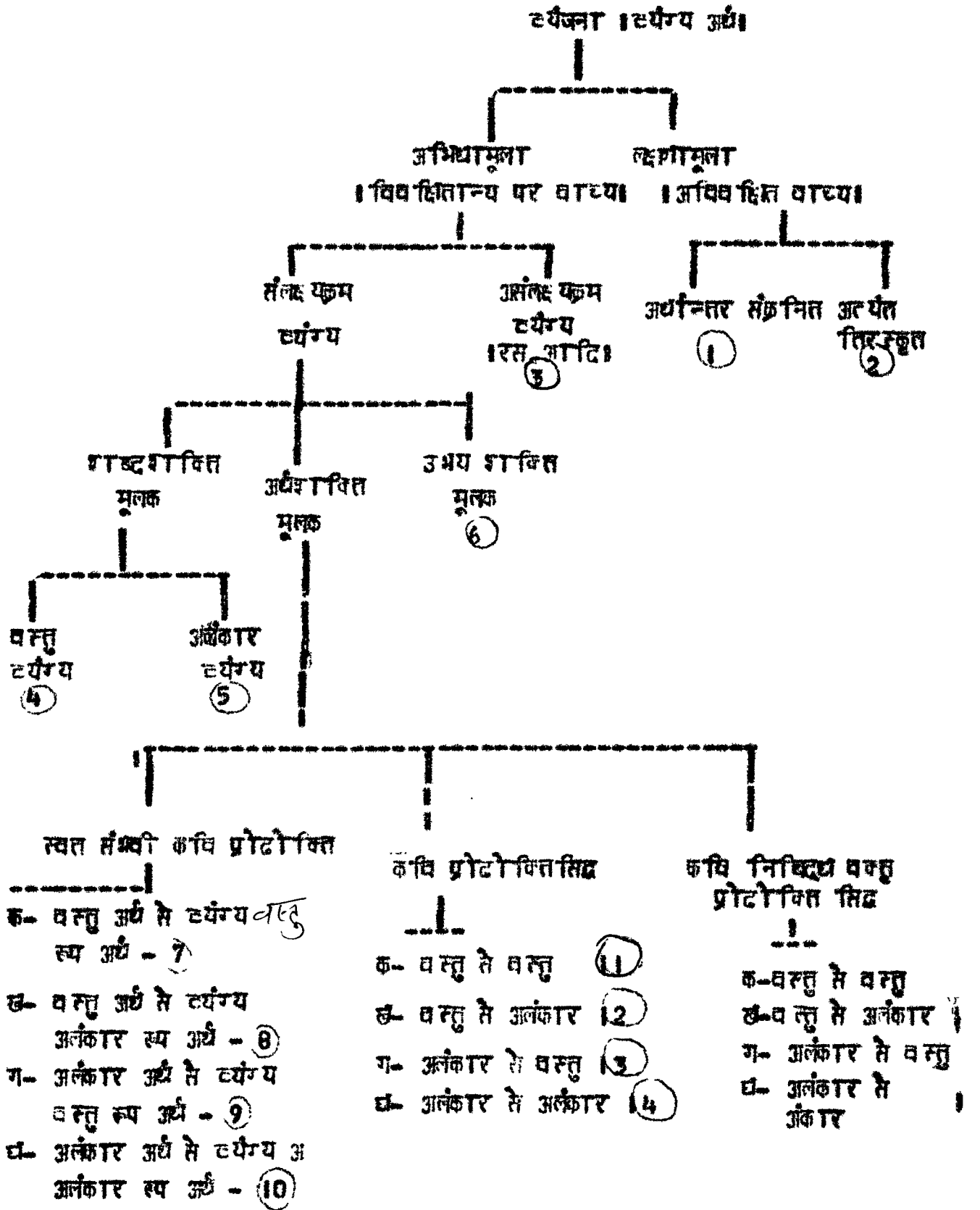
2- ध्वन्यालोक- द्वितीय उद्योत ।

- 111 वस्तुअर्थ से व्यंग्य वस्तुस्य अर्थ,
- 121 वस्तुअर्थ से व्यंग्य अलंकारस्य अर्थ,
- 131 अलंकार अर्थ से व्यंग्य वस्तुस्य अर्थ तथा
- 141 अलंकार अर्थ से व्यंग्य अलंकार स्य अर्थ ।

उभयशक्ति मूल व्यंग्य अर्थ अनेक प्रकार का हो सकता है, अतः पुनः उसके भेद न कर ये इसे एक रूप में ही परिगणित करते हैं ।

इस प्रकार लक्षणांश व्यंग्य के दो प्रकार, अभिधामूल में अंतर्लक्ष्य का एक प्रकार, संलक्ष्य में शब्दशक्ति मूल के दो प्रकार, अर्थ-शक्तिमूल में चार त्वतः संभवी, चार कवि प्रौढोक्तिसिद्ध एवं चार कवि निबद्धवस्तु प्रौढोक्तिसिद्धि । इस प्रकार तद्विषय में बारह प्रकार अर्थ-शक्ति मूल में एवं उभयशक्ति मूल का एक प्रकार, कुल मिलाकर अठारह प्रकार व्यंग्य अर्थ के हो सकते हैं । व्यंजना का यह विभाजन अभिनव गुप्त एवं मम्मट आदि आचार्यों ने आचार्य आनंदवर्धन के अनुसार उनके अनुसङ्ग पर स्वीकार किया है । जैसा कि अगले पृष्ठ पर दर्शाया गया है ।

व्यंग्यार्थ बोध के तिर कभी तो शब्द साधन होता है और कभी अर्थ । इस दृष्टि से व्यंजना के दो भेद हो जाते हैं- शब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना । शब्दी व्यंजना भी दो प्रकार की होती है-अभिधामूला एवं लक्षणांशमूला । अभिधामूला शब्दी व्यंजना में तदैव दृश्यक शब्द प्रयोग में आते हैं लक्षणांशमूला में लाक्षणिक पदों का प्रयोग होता है । क्रमशः दोनों का वर्णन इस प्रकार है-



अभिधामूला शाब्दी व्यंजना =====

“काट्यकाश” में बताया गया है कि संयोगादि अनेकार्थक शब्दों के एक अर्थ का नियंत्रण हो जाने पर जिस शक्ति से अन्य अर्थ का ज्ञान हो, उसे अभिधामूला शाब्दी व्यंजना कहते हैं।¹ आपार्य विश्वनाथ का भी यही मत है।² यह व्यंजना अभिधा पर आश्रित होने के कारण अभिधामूला कही जाती है। यह व्यंजना शब्द-विशेष के स्थान पर उसका पर्याय रख देने से नहीं रह जाती। इस व्यंजना की तीन विशेषताएँ हैं -

।क। इसमें अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग होता है।

।ख। उस शब्द का किसी एक प्रकरण में नियमन या नियंत्रण हो अर्थात् ऐसे शब्द के अनेक अर्थ का बोध कराने वाली अभिधा शक्ति वहाँ असफल हो जाए।

।ग। एक प्रकरण में नियंत्रित हो जाने पर भी उससे प्रतिभाजन से सहृदय आकरणिक अर्थ का ज्ञान प्राप्त करता है।

दोनों ही अर्थों के प्राकरणिक होने पर वहाँ गैर-युक्त कोई अलंकार होगा, अभिधामूला शाब्दी व्यंजना नहीं होगी। अनेकार्थायी शब्दों के एक अर्थ के निर्णय के लिए घोटह प्रकार के साधन बताये हैं- संयोग, विप्रयोग, वियोग।

1- अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियंत्रिते ।

संयोगादिरवाच्यार्थीकृद् व्याप्तिरजनम् ॥

— काट्यकाश 2/19

2- अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगादेः नियंत्रिते ।

एकार्थहन्त्री हेतुव्यंजना साभिधाश्रया ॥

— साहित्यदर्पण, 2/14

साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य-सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर ।*¹ तब के उदाहरण भी "साहित्यदर्पण" में बताए गये हैं ।

111 संयोग

वस्तुओं के संयोग से अर्थ का नियमन होता है जैसे सशङ्खछो हरिः । शङ्खछो धारण किये हरि अर्थात् विष्णु । संस्कृत में "हरि" शब्द के वानर, सिंह, विष्णु आदि अनेक अर्थ पाये जाते हैं । परन्तु शङ्ख और छो के साथ संयोग केवल विष्णु का ही होता है। इसलिये यहाँ संयोग के द्वारा "हरि" का

- 1- संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्ये विरोधिता ॥
 अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
 सामर्थ्यमौचित्यं देशः कालः व्यक्तिः स्वरः ॥
 शब्दार्थस्यान्वये विप्रोक्तमुक्ति हेतवः ॥

साहित्यदर्पण व्याख्याकार विद्यावाचस्पति
 पृ० ४० श्री गालग्राम शास्त्री

- 2- "सशङ्खछो हरिः" इति शङ्खछोयोगेन हरिशब्दो विष्णुमिवा-
 भिद्यन्ते । "अशङ्खछो हरिः" इति तद्वियोगेन तस्यैव । श्रीमार्जुनो-
 इति अर्जुनः पार्थः । "कर्णार्जुनो" इति कर्णः तूत पुत्रः । "स्थार्जुनं वन्दे"
 इति स्थार्जुनः शिवः । "सर्वं जानाति देवः" इति देवो भवान् ।
 "कुपितो मकरध्वजः" इति मकरध्वजः कामः । "देवः पुरारिः"
 इति पुरारिः शिवः । "मधुना मत्तः पिकः" इति मधुसूतन्तः ।
 "पातु वो दयितामुखम्" इति मुखं तामुखम् । "विभाति गगने चन्द्रः"
 इति चन्द्रः शशी । "निशि चित्रभानुः" इति चित्रभानुर्बुधः ।
 "भाति रणगम्" इति न्युक्तकव्यकृत्या रणगम् यक्षम् । स्वरस्तु वेद-
 र्वं विशेष प्रतीतिकृत, न काव्य इति तस्य विषयो नादाहतः ।
 -साहित्यदर्पण, पृ० ४०-४१॥ व्याख्याकार-विद्यावाचस्पति।
 गालग्राम शास्त्री

अर्थ "विष्णु" नियत किया गया है।

12। विप्रयोग

विप्रयोग भी अर्थ का नियामक होता है। अर्थात् यद्यो हरिः

। गच्छ तथा यद्ग ते रहित हरिः। यहाँ गच्छ तथा यद्ग के विप्रयोग होने से हरि शब्द का नियमन "विष्णु" के अर्थ में हुआ है।

13। साहचर्य

प्रसिद्ध साहचर्य। साथ रहना। के वर्णन के कारण अनेकार्थवाची शब्द के एक अर्थ का निर्णय होता है। यथा- रामलक्ष्मणी। राम और लक्ष्मण। रामनामधारी तीन व्यक्ति प्राचीन काल में प्रसिद्ध हो चुके हैं- परशुराम, दशरथ राम तथा क्षराम। इन तीनों व्यक्तियों का वाचक "राम" शब्द है। यहाँ "लक्ष्मण" के साहचर्य से "राम" शब्द दशरथ के पुत्र राम का ही बोधक है अन्य दो व्यक्तियों का नहीं।

14। विरोध

प्रसिद्ध बैर का नाम विरोधिता है। "कर्णाजिनी" कहने पर प्रसिद्ध विरोध के कारण "कर्ण" शब्द से सुतसुत महावीर कर्ण का ग्रहण होता है, कान का नहीं।

15। प्रयोजन

प्रयोजन को अर्थ कहते हैं और चतुर्थी विभक्ति आदि से उसका ज्ञान होता है। यद्यपि "स्थाणु" पद का अर्थ छम्भा और शिव दोनों हैं परन्तु "स्थाणु वन्दे श्वच्छिन्दे" उदाहरण में संतारोच्छेद स्व अर्थ शिवजी से ही सिद्ध होता है, छम्भा से नहीं, अतएव स्थाणुपद का अर्थ यहाँ शिव ही है।

16। प्रकरण

वक्ता और श्रोता की हृदित्यता को प्रकरण कहते हैं। दूसरे शब्दों में जब प्रकरण या प्रसंग के द्वारा अनेकार्थक शब्द के एक अर्थ का निर्णय हो तो

प्रकरण होगा । यथा- मंत्री राजा से कहता है " सर्व जानाति देवः " । देव सब जानते हैं । इस वाक्य में देव शब्द का अर्थ राजा है । अन्य उदाहरण - खाना खाते समय यदि कहा जाय " तेन्यखानय " तो तेन्यख का अर्थ होगा " नक्क लाओ " और यदि सेना के साथ युद्ध में जाते समय कहा जाये तो अर्थ होगा " छोड़ा लाओ " ।

17। लिंग

अनेक अर्थों में से किसी एक ही के साथ रहने वाले और साक्षात् शब्द से बोध्य धर्म का नाम " लिंग " है । स्त्रीलिंग, पुल्लिंग आदि को " व्यक्ति " शब्द से कहेंगे । यद्यपि मकरध्वज का अर्थ कामदेव और समुद्र दोनों होता है, परन्तु " कुपितो मकरध्वजः " इस वाक्य में इस पद से कामदेव का ही ग्रहण है, क्योंकि कोपन्यलिंग समुद्र में नहीं रहता ।

18। अन्यशब्द संनिधि

जब दूसरे शब्द के सान्निध्य से अन्य अर्थ का बोध होकर एक अर्थ का निर्णय हो तो " अन्य शब्द संनिधि " होती है जैसे- देवः पुरारिः यद्यपि पुर का अर्थ देह भी है " पुरं देहेषि दृश्यते " परन्तु " देवः पुरारिः " में देव पद के संनिधान से " पुरारि " का अर्थ शक्ति ही है, देह आदि नहीं ।

19। सामर्थ्य

कार्य करने का प्रभुत्व या बल सामर्थ्य कहलाता है । " मधु " पद दैत्य, वसंत, मय आदि अनेक अर्थों का वाचक है, परन्तु कोकिल को मस्त करने का सामर्थ्य वसंत ऋतु में ही है, अतः " मधुना मन्तः पिकः " इस वाक्य में मधु पद अर्थ वसन्त ही है ।

1101 औचित्य

औचित्य या योग्यता के आधार पर भी अनेकार्थक शब्द के एक अर्थ का निर्णय होता है जैसे- प्रियतमा के कुपित हो जाने के कारण खिन्न पुरुष के प्रति किसी मित्र या सखी की उचित है वातु वो दयितामुखम् । दयितामुख आपकी रक्षा करे । यहाँ औचित्य के कारण मुख्यद का अर्थ सामुख्यः अनुकूलताः है। प्रतिकूलता से खिन्न पुरुष का छेद अनुकूलता ही दूर कर सकती है, अतः उसी का ग्रहण उचित है । कामार्त पुरुष के परिव्राण की योग्यता दयिता के सामुख्यम् । अनुकूल्यः में ही है, केवल मुख में नहीं । मुख, यदि कुपित हो तब तो उलटा बयावह है ।

1111 देश

जब " देश " बल से या देश के कारण अनेकार्थक शब्द के एक अर्थ का निर्णय हो तो " देश " होगा। " देश " से यहाँ अभिप्राय " स्थान " का है- यद्यपि " चन्द्र " का अर्थ कपूर आदिक भी है, परन्तु " विभाति गगने चन्द्रः " में " चन्द्र " का अर्थ चन्द्रमा ही निकलता है, क्योंकि आकाशः देशः में वही रहता है । दूसरा उदाहरण - " मरु में जीवन दूरि है " । यद्यपि जीवन का अर्थ प्राण एवं जल दोनों होता है, परन्तु मरुभूमि अर्थात् देश के कारण इसका अर्थ जल हुआ ।

1121 काल

कालः प्रातः, संध्या, रात्रि आदिः से भी अनेकार्थवाची शब्द के एक अर्थ का निर्णय होता है यथा- " निशि चित्रशानुः " में " चित्रशानु " का अर्थ अग्नि है, सूर्य नहीं । रात्रि । कालः में सूर्य नहीं होता । अन्य उदाहरण कुक्कलय निशि फूल्यौ अली यद्यपि कुक्कलय शब्द का अर्थ कमल तथा कुमुद दोनों ही हैं पर निशाः कालः से सम्बद्ध होने के कारण इसका अर्थ यहाँ कुमुद ही है।

॥३॥ व्यक्ति

व्यक्ति का अर्थ स्त्रीलिंग, पुलिङ्ग आदि व्यक्ति हैं । "भाति
स्याङ्गम्" में नपुंसकत्व के कारण पहिले का ही ग्रहण होता है, पुरुषाक का नह

॥४॥ स्वर

उदात्त, अनुदात्त, स्वरित। - "स्वर उदान्तादिक पैद में ही
विशेष अर्थ के निर्णायक होते हैं । 'जै-" वृत्तगानु " यहां पूर्वपद प्रकृति स्वर
बहुव्रीहि का और अन्तोदात्त तत्पुरुष समास का निर्णायक होता है, परन्तु
काव्य में इससे अर्थ का निर्णय नहीं होता है ।

" कालोप्यपितःस्वरादयः " यहां पर आदि पद से हाथ आदि की
पेहचान ली जाती है यथा " इतने बड़े-बड़े आम आदि में हाथ की पेहचान से
" इतना " शब्द के अर्थ का नियमित बोध होता है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अभिधा के द्वारा शब्दार्थ के नियमित होने
पर भी शब्द के अन्य अर्थ के ज्ञान का कारण जो शक्ति है, उसे अभिधामूला
व्यंजना कहते हैं ।

लक्षणाभूता शाब्दी व्यंजना =====

जब किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए लाक्षणिक पद प्रयुक्त किया
जाय तो वहां लक्षणाभूता शाब्दी व्यंजना होती है । लक्षणा में निहित प्रयोजन
या व्यंग्यार्थ की प्रतीति अस्मिन् तथा लक्षणा दोनों से ही संभव नहीं है ।
उतका बोध केवल लक्षणाभूता व्यंजना से ही होता है । आचार्य विश्वनाथ
ने लक्षणाभूत व्यंजना का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

लक्षणीयार्थे यथ्य कृते तत्तु प्रयोजनम् ।

यथा प्रत्यागृहीतं ता त्वाद्व्यंजना लक्षणाप्रया ॥

अर्थात् जिसके लिए लक्षणा का आश्रय किया जाता है वह प्रयोजन, जिस शक्ति के द्वारा प्रतीत होता है वह व्यंजना लक्षणाप्रया । लक्षणाभूतक । कहाती है। इसी को स्पष्ट करते हैं- " गंगायां घोष" इत्यादिक स्थलों में अभिधा के द्वारा "गंगा" पद से जलमय प्रवाह । स्व मुख्य अर्थ को बाधित करके अभिधा के शान्त होने पर और तटादिस्य लक्ष्यार्थ का बोधन करके लक्षणा के विरत होने पर शीतलता और पवित्रता का आधिक्य जिस शब्द शक्ति के द्वारा प्रतीत होता है, उसे लक्षणा-भूतक व्यंजना कहते हैं । एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है-

कूकती कवेलिया कानन लौं नहिं जाति सहयी-
तिनकी तु अगजें ।

भूमित लैके आकस लौं फूले पलास दवानल -
की छवि छाजें ।

आये क्षांत नहीं घर कंत लगी सब अंत की-
होने इलाजें ।

बैठी रही हम हू छिय हारि,
कहा लागि हारिये हाथन गाजें ।

उपर्युक्त त्रैया में कवि ने क्षांतागम पर किसी वियोगिनी नायिका के विरह का चित्र खींचा है । वह दुःख विरोध के सभी उपायों से उब गयी है और बचने के यत्न करने की " हाथों से गाजें रोकना" समझ बैठी है । यहाँ हाथों से बज्र रोकना कहने से विरह ज्वाला के उपशामक नलिनी-दल, नव-पल्लव, उशीररत्न आदि तुच्छ साधनों से तीव्र काम-पीड़ा का अपहरण स्व अर्थ की अस्तम्भिता सूचित है। यहाँ गाजें पद "दुर्गम मदन-वेदना" स्व अर्थ को लक्षित

करता है। यहाँ लक्षणा मूल शब्दी व्यंजना है। इससे वेदना की अतिशयता व्यंग्य है।

लक्षणा प्रकरण में "काव्यप्रकाश" के अनुसार प्रयोजनवती लक्षणा के जिन 12 भेदों और साहित्यदर्पण के अनुसार जिन मुख्य 32 भेदों का उल्लेख हो चुका है, लक्षणा-मूल व्यंजना के भी उतने ही भेद होते हैं। यह भी कहा गया है कि प्रयोजनवती के प्रयोजन ही व्यंग्य होते हैं। प्रयोजनवती लक्षणा के उदाहरण ही लक्षणा-मूल व्यंजना के इन भेदों के उदाहरण होते हैं।

अभिधामूला व्यंजना एवं लक्षणा-मूल व्यंजना में तुलना
=====

व्यंजना के दो भेद- लक्षणा-मूल एवं अभिधामूल की तुलना से व्यंजना-वृत्ति का स्वल्प अधिक स्पष्ट होगा।

लक्षणा-मूल व्यंजना प्रयोजनवती लक्षणा में ही रह सकती है। लक्षणा यदि प्रयोजनवती न हो तो व्यंजना का होना असंभव है। "लक्षणा-मूलत्व" इस संबंध का अर्थ नागेश ने "लक्षणा-अन्वयव्यतिरेक अनुविधायित्व" इस प्रकार दिया है। अर्थात् प्रयोजनवती लक्षणा और व्यंजना में अन्वयव्यतिरेक संबंध है। जहाँ लक्षणा प्रयोजनवती हो वहीं व्यंजना होती है। और जिस लक्षणा की वृत्तभूमि में व्यंग्य नहीं है, वह लक्षणा कभी प्रयोजनवती नहीं हो सकती। अभिधामूल व्यंजना में यह नहीं पाया जाता अभिधा और व्यंजना में अन्वयव्यतिरेक संबंध नहीं है। प्रत्येक वाचक शब्द में अभिधा होती है। किंतु जहाँ कहीं अभिधा होगी वहाँ अवश्य ही व्यंजना होगी, ऐसा नियम नहीं है। अभिधामूल व्यंजना के लिए पहले तो शब्द के दो अर्थ होने चाहिए। किन्तु शब्द के दो अर्थ होते हैं इसी से वहाँ व्यंजना है ही यह भी नहीं कहा जा सकता। अनेकार्थ शब्द की अभिधा संयोग आदि निमित्तों से एक ही अर्थ में नियंत्रित होनी

चाहिए । इस प्रकार शब्द अनेकार्थ है, उसकी अभिधा एक ही अर्थ में नियंत्रित हुई है और उसी समय दूसरा अर्थ भी सूचित हुआ है, ऐसी स्थिति में ही वहाँ अभिधामूल व्यंजना होती है । यदि अभिधा इस प्रकार नियंत्रित न हुई और दोनों अर्थ प्रतीत हुए तो वे दोनों अर्थ वाच्य होते हैं और वहाँ, श्लेषालंकार होता है, व्यंजना नहीं होती । दूसरी बात यह है कि अभिधामूल व्यंजना से प्राप्त होने वाला व्यंग्यार्थ, स्वतंत्र रूप से देखा जाये तो, उस शब्द का वाच्यार्थ या अश्लेषार्थ ही होता है । किन्तु विशिष्ट प्रसंग में वह अङ्कुर होता है, इसलिए उसे वाच्यार्थ नहीं कहा जा सकता और इसीलिए यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह अभिधा से प्राप्त हुआ है ।

आधी व्यंजना

व्यंजना मात्र शब्द की ही धृति नहीं है वह अर्धधृति भी है । पूर्व वर्णित अभिधा मूलव्यंजना और लक्षणा मूल व्यंजना, शब्द व्यंजनार्थ है, किन्तु इतना ही व्यंजना का हेतु नहीं है । अर्थ भी व्यंजक हो सकता है । अतः जो शब्द शक्ति 1-वक्ता।कहने वाला।, 2-बोद्धव्य।जिससे बात कही जाये। 3-वाक्य, 4- अन्य सन्निधि 5-वाच्य, 6- प्रस्ताव।प्रकरण।, 7-देश, 8-काल, 9-कारण। कष्ट दधनि।, 10- घेहटा आदि की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराती है वह आधी व्यंजना कहलाती है ।

आचार्य विश्वनाथ ने बताया है कि वक्ता,।कहने वाला। बोद्धव्य । जिससे बात कही जाये। वाक्य, अन्य का सन्निधान, वाच्य।अर्थ। प्रस्ताव

1- वक्तुर्बोध्य काकूना वाक्य वाच्यान्य सन्निधिः ।

प्रस्तावदेशकालादेवैरिच्छित्यारप्रतिभा जुधासु ॥

यौद्धर्पस्यान्यार्थधी हेतु व्यपिपारी व्यक्तित्वेक सा ॥

। प्रकरण। देश, काल, काकु, । गले की विशेष ध्वनि। तथा घेबटा आदि की विशेषता के कारण जो शब्दशक्ति अन्य अर्थ का बोधन करती है, वह अर्थमूलक व्यंजना है ।¹

अतः स्पष्ट है कि आधी व्यंजना में अर्थ की सहायता से व्यंग्यार्थ का ज्ञान होता है । दूसरे शब्दों में जहाँ पर व्यंग्यार्थ किसी शब्द पर आधारित न हो, वरन् उस शब्द के अर्थ द्वारा ध्वनित होता हो वहाँ आधी व्यंजना होती है । आधी व्यंजना की एक विशेषता यह है कि शब्द के परिवर्तित हो जाने पर व्यंजना सुरक्षित रहती है । अभियामूला शब्दी व्यंजना वाचक शब्द पर तथा लक्षणा मूला शब्दी व्यंजना तात्पर्य शब्द पर अवलम्बित रहती है, किंतु आधी व्यंजना केवल अर्थ की विशिष्टता के कारण संभव हुआ करती है ।

उपरोक्त दस भेदों में भी प्रत्येक व्यंजना के ।।। वाच्य संभवा

। 2। लक्ष्य संभवा । 3। व्यंग्य संभवा नाम के तीन-तीन भेद होते हैं, क्योंकि काव्य के अर्थ तीन प्रकार के होते हैं- वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य ।² इसीलिए आधी व्यंजना वाच्यार्थ या व्यंग्यार्थ पर निर्भर रहती है । वाच्यार्थ पर आश्रित आधी व्यंजना को 'वाच्य संभवा'; लक्ष्यार्थ पर आश्रित व्यंजना को 'लक्ष्य संभवा' तथा व्यंग्यार्थ पर आश्रित व्यंजना को 'व्यंग्य संभवा' कहते हैं । इस प्रकार आधी व्यंजना के तीस भेद। वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य को मिलाकर होते हैं । आधी व्यंजना के मुख्य दस प्रकारों के उदाहरण इस प्रकार हैं -

-
- 1- वस्तुबोधव्यवाक्यानामन्य संनिधि वाच्ययोः ।।
प्रस्ताव देशकालानां कालोऽपेष्टादिकस्य च ।
वैशिष्ट्यादन्यमर्थं वा बोधयित्वा संभवा ।।

-साहित्यदर्पण-2/16/17

- 2- त्रैविद्यादिकमर्थानां प्रत्येक त्रिविधामता ।
2/17, साहित्यदर्पण

111 वस्तु वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना-

वक्ता अथवा कवि या कवि कल्पित व्यक्ति के वस्तुव्य या कथन की विशिष्टता के कारण जब व्यंग्याय की प्रतीति हो तो वस्तुवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना होती है क्या-

अति प्रभुर्लं जनकुम्भी गृहीत्वा,
समागताहस्मि सखि त्वरितं ।
भ्रमस्त्वैतत्तिलनिःश्वातनिःसहा
विश्राम्यामि क्षणम् ।¹

हे सखि, मैं बहुत बड़ा पानी का घड़ा लेकर शीघ्रता से चली आ रही हूँ । परिश्रम के कारण स्वेद और श्वास से थकित हूँ । अतः कुछ समय यहाँ बैठकर विश्राम करूँगी । इस उदाहरण में वक्ता का रति को छिपाने का प्रयत्न व्यंजित हो रहा है। स्पष्टार्थ यह है कि एक स्त्री प्रियतम से संभोग करके आ रही है । इसके लक्षण उसके मुँहाड़े पर व्यक्त हो रहे हैं । उन्को देखकर सखी शंका कर पुछ बैठे, इसलिये कहने वाली स्त्री उस शंका को दूर करने के लिए पहले ही कह देती है कि यह थकावट पानी के छड़े के कारण है । एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है-

पतिभदेवता तृतीय महं, मातु प्रथम सब रेखा
महिमा अमित न कहि सकहिं, सहस्र सारदा लेख
सेवत तोहि सुलभ फल वारी, वर दायिनी पुरारि पियारी
देवि पुजि पद कमल तुम्हारे, सुर नर मुनि सब होहिं तुम्हारे ।²

इन पंक्तियों में सीता की पार्वती के प्रति उक्ति है । ये कहती

हैं कि हे पार्वती जी तुम्हारी तो पतिव्रता स्त्रियों में प्रथम गणना है। इससे यह

1- काव्यप्रकाश । नागेश्वरी टीका, पृ० 27

2- रामचरितमानस, बालकाण्ड, सीता प्रेस गोरखपुर, पृ० 137

व्यंग्यार्थ निकलता है कि तुम जब ऐसी पतिव्रता हो तो मेरे पतिव्रता धर्म की रक्षा करोगी, क्योंकि मैं रामचन्द्र जी को अपने मन में पति पुन चुकी हूँ, ऐसा न हो कि कोई दूसरा तुम कुमार धनुर्धन्य करके मेरा वरण कर ले। अग्रे वे कहती हैं कि तुम्हारी सेवा में पारों फल- अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष सुख हैं तो मेरी मनोकामना भी अवश्यैव पूर्ण होगी और क्यों न होगी जब कि तुम वरदायिनी हो। इसमें यही व्यंग्य है। अन्तिम पंक्ति में भी यही बात है। तुर-नर-मुनि तेरी सेवा में। पूजादि। में सुखी होते हैं तो मैं भी सुखी होऊँगी। प्रार्थना में कृपा की प्रेरणा और अभीष्ट लाभ ये दोनों व्यंग्य हैं। फलवारी, वरदायिनी, तुम्हारे शब्दों के स्थानों में भिन्न शब्द रखने पर भी व्यंग्य ही रहेगी।

12। बौद्धव्य वैशिष्ट्य आर्था व्यञ्जना

जब बौद्धव्य या प्रीता के वैशिष्ट्य के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो तो बौद्धव्य वैशिष्ट्य आर्था व्यञ्जना होती है जैसे-

औन्दिप्यं दीर्घत्वं चिन्तात्मात्वं तनिःश्वसितम् ।

मम मन्द भागिन्या कृते सञ्चितमपि अहं परिभ्रमति ।

हे तखि, मुझ मंदभागिनी के कारण निद्रा का न आना, दुर्बलता, चिन्ता, आलस्य, निःश्वास आदि का भोग भोगना पड़ता है, यह तो बड़े दुःख की बात है।

इस उदाहरण में दूती का नायिका प्रियतम के साथ संभोग व्यंग्य है। दूती की रति छीड़ा को नायिका भाँप जाती है, उसके अनंतर इस बात को कहती है।

दूसरा उदाहरण देखिए-

निःशोषप्लुत पन्दनं तनतटं निर्मृष्टरागोडधरो,

भैरवदूरमनंजने पुलकिता तन्वी तपेयं तनुः ।

मिष्ट या वादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडा गमे वापी

रुनातुमितोगताति न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥2

नायक को छुलाने के लिए प्रेषित, किन्तु नायकोपभुक्त और अपने को वापी स्नान करके आई बताती हुई दूती के प्रति कुपित नायिका की उक्ति है- "निःशेषेति" मेरे स्तन तटों से चन्दन सब छूट गया है, अधरोष्ठ का रंग चित्कृत साफ हो गया है, नेत्रों के प्रांत अंजन से गून्च्य हैं और मेरी दुर्बल देह, पुलकित हो रही है । बान्धवजन! मेरी। व्यथा को न सम्झने वाली है । मिष्टपाषादिनी दूती, तु यहाँ से वापी से स्नान करने गयी थी और उस अधम! नायक! के पास नहीं गयी थी ? इस पद्य में " न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्" इस अंश से विपरीत लक्षणा के द्वारा "तदन्तिभ्यगताति" । उसी के पास गयी थी । यह अर्थ लक्षित होता है और उसका " रन्तुम्" । रमण करने को। यह अर्थ व्यंग्य है, जो कि प्रतिपाद्य दूती की विशेष दशा के कारण बोधित होता है ।

यह अवसर निज कामना, किन पूरन करि लेहु ।

ये दिन फिर ऐहें नहीं, यह उन भंगुर देहु ॥¹

x x x

उपयुक्त दोहे का वाच्य अर्थ स्पष्ट है। कोई किसी से कह रहा है कि यह अवसर बहुत ही सुंदर है। अपनी इच्छा को पूर्ण कर लो । क्योंकि यह देह तो क्षणभंगुर है। यह दिन फिर आयेगा नहीं । अतः जो करना है सो कर लो । विचारणीय यह है कि यहाँ बोधक कौन है ? यदि किसी॥१॥ कामुक व्यक्ति के प्रति यह उक्ति है, तो विषयवासना व्यंग्य है और यदि किसी॥२॥ विरक्त साधू से यह बात कही जा रही है, तो मोक्ष व्यंग्य है। फलतः यहाँ

1.- विहारि सतसई ।

बोधव्य की विशिष्टता के कारण नवीन अर्थ व्यंग्य हो रहा है । बिहारी के दोहों में बोधव्य की विशिष्टता के कारण गूंगारपरक अर्थ गान्धितपरक बन जाता है । इस दोहे में बोधव्य की विशिष्टता से व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है ।
अतः यह बोधव्य वैशिष्ट्योत्पन्न वाक्यांश आधी व्यंजना का उदाहरण है-
एक अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य है-

धामज्जीक निवारिए, कलित ललित अलिपुंज ॥
जमुनातीर तमाल तरु मिलत मानती कुंज ॥¹

यहाँ वक्ता नायिका एवं बोधव्य। श्रोता। नायक है । नायिका स्वयं दूती है । वह अपनी इस उक्ति के द्वारा यमुना तटवर्ती तमाल वृक्ष के निकट मानती-कुंज में नायक को मिलने का संकेत करती है -यहाँ संकेत स्थल सूचना व्यंग्य है ।

1.3। काकु वैशिष्ट्य आधी व्यंजना

बदली हुई कंठ ध्वनि को काकु कहते हैं । जब काकु अर्थात् कंठ ध्वनि की विशेषता के कारण वाक्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, वहाँ काकु वैशिष्ट्य आधी व्यंजना होती है-

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपतदसि पवित्रतनयां,
वने दयाधैः सार्धं सुधिर मुधिरं वल्कल धरेः ।
विराटस्यावासे स्थितमनुषितारबनिभृतां,
गुरुः छेदं विन्ने मयि भजति नाथापि कुस्तु ॥²

यह श्लोक "केणीसंहार" नाटक का है। यहाँ भीम और सहदेव का संवाद हो रहा है । भीमसेन के कोप को देखकर सहदेव का कहना है कि आपके इस व्यापार को सुनकर सम्भवतः युधिष्ठिर क्रुद्ध हों । उसके उत्तर में भीम का कथन है कि "गुरु

1- बिहारी सप्तसई

2- काव्यप्रकाश, 3/15, नागेश्वरी टीका, पृ० 28

खेदमपि जानाति* अच्छा, गुरु क्रुद्ध होना भी जानते हैं ? तो फिर उन्हें
कीरवों पर क्रुद्ध होना चाहिए मेरे ऊपर नहीं । उदाहरण के श्लोक के बोलने
में ही अर्थ की व्यंजना है । काकु की विशेषता का दूसरा उदाहरण प्रस्तुत है-¹

गुरु परतन्त्रतया वत दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम्

जलिकुल कोकिल तलिते नैव्यति सखि, सुरभि समयेवतो ।।

सखी से नायिका की उक्ति है- गुरु, पिता आदि। के अधीन होने के कारण
अत्यंत दूर देश में जाने के लिए उद्यत, यह मेरा प्रियतम है सखि । अमर समूह
और कोकिलों से मनोहर, वसंत ऋतु में नहीं आयेगा ? जो गुरुजनों के अधीन
है वह अपने मन में उत्कंठा उत्पन्न होने पर भी उनके आगे न कह सकेगा और
देश अत्यंत दूर है, अतः अकेले आने की अनुमति भी न पा सकेगा । यह बात
नायिका की उक्ति से अभिव्यक्त होती है। सखी ने इसी वचन को अपने गले
की दूसरी ध्वनि से पढ़ दिया तब यह अर्थ व्यंजित होने लगा कि गुरु परवश
होने के कारण जा रहा है । अन्यथा जाता भी नहीं । फिर वसंत समय में
नैव्यति ? क्या नहीं आयेगा ? अर्थात् अवश्य आयेगा । यह बात काकु से
व्यक्त होती है ।

एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है- * सोह कि कोकिल विपिन करील ?
क्या कोकिल करील के वन में सोहती है ? इस वाक्य को काकु ने पढ़ने पर
व्यंग्यार्थ कितनी जल्दी से निकलता है कि करील के जंगल में कोकिल का रहना
नितान्त अशोभन तथा अनुचित है ।

14। वाक्य वैशिष्ट्य आधी व्यंजना

जहाँ वाक्य की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ का बोध हो, वहाँ
वाक्य वैशिष्ट्य आधी व्यंजना होती है जैसे-

1- साहित्यदर्पण । व्याख्याकार श्री विद्यावाचस्पति गान्ध्याम शास्त्री।,

तदामम गण्डधलीनिमग्नां दृष्टि नान्वीरन्य ।
 द्वावीं सेवाहं ती य कपोलौ न ता दृष्टिः॥¹

उस समय मेरे कपोल पर लगायी हुई दृष्टि को तुम कहीं और नहीं ले जाते थे, अब मैं वही हूँ, मेरे कपोल भी वही हैं किन्तु तुम्हारी वह निनिमिष दृष्टि नहीं है जो मेरे कपोलों पर रहती थी । इस उदाहरण में नायक का परस्त्री जनित प्रेम व्यंग्य है । नायिका के कथन से स्पष्ट है कि तुम मेरे कपोल की ओर प्रेम के कारण नहीं अपितु अपनी प्रेमिका के रूप को देखने के लिए देख रहे थे । अब उसके बले जाने पर तुम्हें देखने की आवश्यकता ही नहीं रही । एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है-

जेहि विधि होहहिं परम हित, नारद सुनहु तुम्हार ।²
 सोह हम करव न जान कहु, ब्यन न सुधा हमार ॥

राज कन्या पर मोहित होकर एक बार नारद जी भगवान् विष्णु से उनका रूप मांगते हैं इस रूप भिक्षा पर भगवान् ने कहा कि मैं सत्य कहता हूँ कि मैं वही उपाय करूँगा जिसके द्वारा तुम्हारा हित संभव हो । नारद जी ने इस वाक्यार्थ से अपनी अभीष्ट सिद्धि समझ ली । परन्तु वाक्यार्थ से यहाँ इस व्यंग्यार्थ का बोध होता है, और वास्तव में भगवान् के कहने का प्रयोजन भी यही है कि तुम्हें मैं अपना रूप नहीं दूँगा, क्योंकि इससे तुम्हारा हित नहीं, अहित होगा । यहाँ तारे वाक्य की विशोद्धता से वाक्य/अर्थ व्यंजना है ।

15। वाक्यैशिशुदय आर्थ व्यंजना

जहाँ वाक्य अर्थात् वक्तव्य की विशोद्धता से व्यंग्यार्थ प्रकट होता

1- काव्यप्रकाश । नागेश्वरी टीका। पृ० 28 संस्कृत स्पातिर

2- रामचरितमानस। गोस्वामी तुलसीदास।

हो वहाँ वाच्य वैशिष्ट्य आधी व्यंजना होती है जैसे-

उददेशोदयं सरस कदलीभ्रमिणी शीघ्रातिशायी,
कुञ्जोत्कर्षाङ्गिरित रमणीविभ्रमो नर्मदायाः ॥
किञ्चेतस्मिन् सुरत सुहृदस्तन्वि से वान्ति वाता,
येषामग्रे सरत्कलिताहकाण्ड कोणे मनोभूः ॥¹

नायक का नायिका के प्रति कथन है कि हे तन्वी । यह नर्मदा नदी का उंचा प्रदेश है, सरस हरी-हरी केलों की पत्तियों से रमणीय है, कुंजों के उत्कर्ष के कारण कामनियों के हाव-भावों को अंकुरित करने वाला है । यहाँ सुरत के मित्र उत्तेजित करने के लिए वे वायु चलते हैं जिनके सम्यक् अवसर के होने पर वे भी पुष्पधन्या कामदेव चलता है ।

इस प्रकार श्लोक में कामोद्दीपक नर्मदा के स्थान विशेष के सौन्दर्य की व्यंजना है और उससे यह भी स्पष्ट है कि सुरत के लिए कुंज में प्रवेश करो ।

वाच्य वैशिष्ट्य और वाच्य वैशिष्ट्य में अंतर यह है कि वाच्य की विशेषता में प्रथम एवं वाच्य की विशिष्टता में द्वितीय होती है । वाच्य वैशिष्ट्य में उत्कृष्ट विशेषण अनिवार्य नहीं होता । यथा -

मधु बरसती विधु फिरन हैं कांपती तुकुमार,
पवन में है पुलक मंथर, बल रहा मधुमार ।
तुम समीप, आगिर हलने आज क्यों हैं प्राण ।
छक रहा है किस सुरभि से तुप्त होकर प्राण²

उपरोक्त पंक्तियों में समस्त वाच्यार्थ ही वैलासिक लालसा की व्यंजना करता है । वाच्यार्थ की योजना की यह विशेषता है ।

1- काव्यकाशः। नागेश्वरी टीका। पृ० 29, 3/17

2- कामायनी। जयशंकर प्रसाद।

161 अन्यसन्निधि- वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना

जहाँ वक्ता तथा श्रोता के अतिरिक्त दूसरे व्यक्ति के संतर्प के कारण व्यंग्यार्थ ज्ञात होता है, वहाँ अन्यसन्निधि वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना होती है। इसमें तीन व्यक्ति होते हैं- वक्ता, श्रोता एवं ज्ञाता अर्थात् कहे कोई, सुने कोई और समझे कोई तीसरा । यथा-

मुदत्पनाद्रमनाः श्वभूमौ गृहभरे सकले ।

क्षणमात्रं यदि संद्यायां श्वति न वा श्वति विभ्रामः ।¹

कोई नायिका अपने समीपस्थ प्रिय को लक्ष्य कर अपनी सखी से कहती है कि मेरी निर्दय सास घर के समस्त कार्य सुझाते ही कराती है। अतः केवल संद्या के समय क्षणभर को मुझे विभ्राम का समय मिलता है, नहीं तो कभी नहीं मिलता।

इस श्लोक में संद्या का समय संकेत काल है, प्रियतम को संकेत सखि की सन्निधि में मिलता है। वक्ता नायिका, श्रोता सखी एवं सम्झने वाला प्रिय नायक है । अन्य सन्निधि का द्वितीय उदाहरण प्रस्तुत है -

पश्यनिश्चल, निरूपन्दा ब्रिजिनी पत्र राजौ बलाका ।

निर्मल मरकतश्रावण परिस्थिता शंख गुक्तिरिव ॥²

निर्जन वन कुंज में सरोवर के किनारे अपने पास में स्थित, निश्चेष्ट प्रियतम से नायिका की उक्ति है- हे निश्चल, देख, कमलिनी के पत्र पर बैठा हुआ बगुला, निर्मल मरकतश्रावण की धाली में रहे हुए शंख के समान सुंदर दिखायी देता है । यहाँ बगुले को शंख की तरह। एक जड़ पदार्थ की भाँति।³ निरूपंद⁴

1- काव्यप्रकाश। नागेश्वरी टीका। पृ. 29, तृतीयोत्तास

2- साहित्यदर्पण - व्याख्याकार । विद्यावाचस्पति शास्त्राम शास्त्री, पृ० 44

कहने से उसकी विश्वस्तता घोषित होती है। कर्मुला निः शंक बैठा है, इससे मालूम होता है कि यह स्थान निर्जन है और निर्जनता के कारण यह सकैत स्थान है। यह बात कोई अपने तन्निहित प्रयत्न कामुक से व्यंजना के द्वारा कहती है। यहाँ व्यंग्यार्थः । सकैत स्थान । का निर्जनत्व रूप वैशिष्ट्य यहाँ प्रयोजन है और यह प्रयोजन अन्यतन्निधि वैशिष्ट्य के द्वारा होता है। वक्ता और श्रोतृव्य इन दोनों से "अन्य" है कलाका । उसकी तन्निधि वैशिष्ट्य है निःस्पन्दत्व । उसी के द्वारा यहाँ इस स्थान का निर्जनत्व व्यंजित होता है । अन्य तन्निधि का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है -

घर के सब च्योते गये, अभी अधिरी रात ।

घर किवार नहिं द्वार में, ताते जिय छबरात ॥

इन पंक्तियों में नायिका वक्ता उसकी सखी श्रोता एवं उसका उपपत्ति समझने वाला है। सखी के सामने नायिका उपपत्ति से प्रत्यक्ष रूप से कुछ कह नहीं पाती । अतः वह सखी से अपनी एकाकीपन की स्थिति प्रकट कर देती है । यहाँ पर व्यंग्य निकलता है कि मैं रात में अकेली रहूंगी तुम बिना किसी रोक-टोक के आ सकते हो ।

171 प्रस्ताव वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना

जब प्रस्ताव या प्रकरण के कारण वक्ता की उक्ति से व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो तो प्रस्ताव वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना होती है । यथा-

भ्रूयते सप्तागमक्षयति तत्र प्रियौडय प्रहरमात्रेण ।

एवमेव किमिति तिष्ठति तत्सखि । सज्जकरणीयम् ॥¹

इस श्लोक में नायिका की अंतरंग सखी की उक्ति है प्रेमी के पास अभितार के लिए उद्यत नायिका को उसकी सखी उसके प्रिय के आगमन का समाचार देकर अभितरण क्रिया से रोकना चाहती है। अभितार के निमित्त जाने के प्रकरण में व्यंग्य की सूचना प्राप्त होती है जो अभितरण क्रिया के रोकने में व्यंग्य है।

इसी श्लोक का हिन्दी स्यान्तर बिहारी का एक दोहा देखिए-

सुनियत तब पिय आतु है, ताँह समय सखि आज ।
क्यों न करत उपकरन तू, क्यों बेठी बे काज ॥¹

यहाँ भी अभितार करने जाने के लिए प्रस्तुत नायिका को उसकी सखी विशिष्ट प्रकरण । प्रस्ताव । के द्वारा मना कर रही है कि यह समय उचित नहीं है । एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है-

धाम धरीक निवारिये, कलित-ललित-अलिपुंज ।
जमुना तीर तमाल तरु, मिलत मानती कुंज ॥²

यहाँ स्वयं दूती का प्रस्ताव ही अपनी विशेषता रखता है, जिससे उपयुक्त तर्क स्थल की व्यंजना होती है ।

18। देश वैशिष्ट्य आधी व्यंजना

जहाँ देश अथवा स्थान की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो वहाँ देश वैशिष्ट्य आधी व्यंजना होती है । यथा -

अन्यत्रं पूर्य कुसुमावधायं कुसुममन्त्रात्मि करोमि तस्यः ।
नाहं हि कुरं प्रमितुं समर्थं प्रतीदतायं रपितोऽजनिर्धः ॥³

1- बिहारी सतसई

2- बिहारी सतसई

3- काव्यप्रकाश । नागेश्वरी टीका, 3/20, पृ० 30

हे तलियों, तुम कहीं अन्यत्र मुख्य घयन करो, मैं यहाँ मुख्य घयन कर रही हूँ। मैं दूर चलने में असमर्थ हूँ। अतः तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ, अतः मुझ पर कृपा करो।

यह एकान्त स्थल है, अतः प्रच्छन्न कामुक को तुम यहाँ भेज दो। यह कथन किसी अपनी विश्वस्त दूती या सहेली के प्रति नायिका कह रही है। एकान्त में रति ढीढ़ा अच्छी तरह ही सकेगी यह व्यंग्य है।

दूसरा उदाहरण प्रस्तुत है -

शिथिल अलसायी पड़ी हाया निशा की काँत ।
तो रही थी शिशिर कण की तेज पर विप्राँति ॥
उत्ती हुरमुट में हृदय की भावना थी प्राँति ॥¹

यहाँ स्थान वनीन की विशेषता है जिसे विलास हृच्छा एवं संकेत स्थल की उपयुक्तता व्यक्त होती है।

19। काल वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना

जहाँ काल या समय की विशेषता के कारण व्यंग्य का बोध हो, वहाँ काल वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना होती है। यथा-

गुरुजन प्रियवशा प्रिये । किं भणामि तत्त्वमंभगिनी अहम् ।

अयं प्रवर्तं प्रजति प्रज त्वमेव श्रोत्रयति-करणीयम् ॥²

गुरुजनों के परवशा है प्रिये । मैं मंदभागिनी तुम से क्या कहूँ ? आज वर्तमान काल में यदि तुम जा रहे हो तो जाओ तुम्हें क्या करना चाहिए, यह वा मेरी मृत्यु के बाद तुमको स्वयं तुम्हें को मिल जायेगी ।

1- कामायनी, जयशंकर प्रसाद

2- काव्यप्रकाश । नागेश्वरी टीका। संस्कृत स्यान्तर, पृ० 30

इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि इस वसंत में तुम जा रहे हो तो मेरा जीवित रहना कठिन है, तुम्हारा क्या होगा, यह तुम जानो । वसंत श्रुत कामोद्दीपक होती है। इस श्रुत में प्रियतम को विदेश न जाने देना व्यंग्य है । यह श्रुत तो प्रियतम के साथ भोग करने की है यह भी व्यंग्य है ।

अन्य उदाहरण प्रस्तुत है-

छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधुरी गंध ।
ठीर-ठीर शीरत शपथ, भीर-भीर मधु-अंध ॥¹

मानिनी नायिका की सखी वसंत के मृदुमस्त रूप का वर्णन करके उसके मान मोचन के लिए आग्रह कर रही है कि " इस वसंत काल में तुम्हारा मान किसी प्रकार टिक नहीं सकता । आनंद और रस केलि के समय कहीं मान किया जाता है" आदि व्यंग्यार्थ का वसंत काल के कारण ही बोध होता है इसलिए यहाँ कालविशिष्टव्योत्पन्न आर्षी व्यंजना है ।

कहलाने एकत क्षत, अहि, मयूर, मृग-बाध ।
जगत तपोवन सीं कियौ दीरघ-दाघ-निदाघ ॥²

यहाँ काल की विशेषता है जिससे विलासच्छा की व्यंजना होती है । जो स्वयं दूती के वक्ता होने, उसके प्रस्ताव आदि से पुष्ट होती है ।

वक्ता, वाक्य, प्रकरण और देश काल की विशेषता के कारण उत्पन्न हुई व्यंजना के उदाहरण में प्रस्तुत है एक श्लोक-

*कालो मधुः कुपित सख य पुष्पधन्वा,
धीरा वहान्त रति छेदहराः समीरा :।
केलौचनीयमपि वंजुलकुंजमंजुदरे,
पतिः कथय किं करणीयम् ॥³

1- बिहारी सतसई ।

2- वही -

3- साहित्यदर्पण। द्वितीय परिच्छेद। व्याख्याकार विद्यावाचस्पति शास्त्राचार्य शास्त्री, पृ० 43

उपयुक्त श्लोक के अनुसार- नायिका अपनी सखी से कहती है कि वसन्त का उन्मादक समय है और फिर यह कामदेव कृपित है, रतिश्रम को हरने वाला धीर समीर मंद-मंद प्रवाहित है। अंगोर के कुंजों से रमणीय, झीड़ा के योग्य यह छोटा सा वन है और पति दूर है। हे सखि ! बता तो सही, अब क्या करना चाहिए ? इस पद्य में " यहाँ गीघ्र प्रच्छन्न कामुक को तू भेज" यह बात व्यंजना के द्वारा सूचित की है।

110। घेष्टा वैशिष्ट्य आर्धी व्यंजना

जहाँ घेष्टा या हाव-भाव के द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो, वहाँ घेष्टा वैशिष्ट्य जन्य आर्धी व्यंजना होती है। यथा-

संकितकाल मन्त्रं वितं हारवा विदग्धया ।

हसन्नेवर्पिता कूर्तं लीला पदमं निमीलितम् ॥¹

यतुर सखी ने विट को संकित काल का " जिहासु " जानकर विकसित नेत्रों से भाव बताते हुए लीला कमल बंद कर दिया- कमल के मुँद देने से किसी ने यह सूचित किया कि सन्ध्या। जब कमल मुकुलित होते हैं। संकित का समय है।

अन्य उदाहरण प्रस्तुत है-

द्वारो पातं निरंतरे मयि तथा सोन्दर्यार भ्रिया,

प्रोल्कास्योरुर्ण परस्पर समासकृतं समासादितम् ।

आनीतं पुरतः शिरोंगुकमधः क्षिप्ते घले लोचने,

वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं संकोचितं दौलीत ॥²

1- साहित्यदर्पण । विद्यावाचस्पति शालग्राम शास्त्री।, पृ० 45

2- काव्यप्रकाश - 3/22

भैं जब द्वार के समीप पहुँचा तब उस अनिष्ट सुंदरी ने अपनी दोनों जंजीरों को फैलाकर, फिर एक दूसरे से घिपटा लिया । तिर पर घूँघट डाल लिया, आँखें नीची कर लीं, बोलना बंद कर दिया तथा अपनी गुंजाई समेट लीं । इस उदाहरण में प्रियतम के मिलन विषयक अभिप्राय घेड़ों के द्वारा व्यंग्य है ।

अन्य उदाहरण प्रस्तुत है -

लखि गुरुजन-खिय कमल तौं, सीसु सुवायी स्याम ।
हरि तनमुख करि आरती हिरं लगाई बाम ॥ ¹

यहाँ नायक द्वारा कमल से तिर को छुलाने की घेड़ा से नायिका के प्रति वरण स्पर्श की व्यंजना की गयी है। उत्तर में नायिका ने दर्पण को हृदय से लगाने की घेड़ा द्वारा व्यक्त किया है कि तुम मेरे हृदय में झोते हो ।

कंतक काढ़त लाल के, चंचल पाह निवाहि ।
वरन छींचि लीनो तिया, हंसि बूँठे करि आहि ॥ ²

यहाँ बूँठी आह भर के और हंस करके वरन छींच लेने से नायिका का केलि किंचित व्यंग्य है । इससे यहाँ घेड़ा द्वारा वाच्य संभवा व्यंजना है।

अर्थ-वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य इन तीन भेदों में विभक्त होता है
अतः अभी कही हुई अर्थ मूलक व्यंजनार्थ भी प्रकार की होती है। उनमें वाच्य अर्थ की व्यंजना " कालोमृगः " इत्यादि पद में दिखायी गयी है। लक्ष्य अर्थ

1- बिहारी सतसई

2- - वही -

की व्यंजना। विवरीत अर्थ के द्वारा ।" निःशेषवृत्ते " श्लोक में कही गयी है और व्यंग्य अर्थ की व्यंजना" पश्य निश्चल" इत्यादि श्लोक में बतायी गयी हैं ।

आचार्य मम्मट ने इस प्रसंग का उपसंहार यह कहकर किया है कि आर्थी व्यंजना के उपर्युक्त 10 भेद हैं । उदाहरण भी अलग-अलग दिये गये हैं किंतु एक-दो और दो से अधिक भेदों को एक स्थान पर मिलाकर भी सब की व्यंजकता दिखलाई जा सकती है -

निराकाङ्क्षत्व प्रतिपत्तये प्राप्तवत्तरतया च पुनः पुनश्चादियौ ।
वक्तादीनां मिथः संयोगे द्विकादिभेदेन अनेन क्रमेण तद्व्यंग्ययोग
व्यंजकत्वमुदाहाहरिषु ॥¹

आर्थी व्यंजना में शब्द का सहयोग रहता है इस विषय में मम्मटाचार्य लिखते हैं कि -- आर्थी व्यंजना में व्यंग्यत्व अन्य अर्थ का बोध कितनी विगोच शब्द के द्वारा होता है। शब्द प्रमाण के द्वारा गम्य अर्थ ही जाना हुआ । व्यंजना के द्वारा अर्थान्तर का बोध कराता है । अतः अर्थ की व्यंजना।व्यंजकता। में शब्द ही सहकारिता भी रहती है ।²

यही बात आचार्य विश्वनाथ ने अपने ग्रंथ साहित्यदर्पण में स्पष्ट की है कि अर्थ शब्द से बोधित होने पर अशिव्यंजन करता है और शब्द भी अर्थ का आश्रय लेकर ही व्यंजन करता है अतः एक । शब्द अथवा अर्थ। जहाँ व्यंजक होता है वहाँ दूसरा सहकारी।साधी। कारण रहता है । शब्द अर्थ की और अर्थ शब्द की ओर।व्यंजन में । करता है। अतः एक की व्यंजकता में दूसरे की सहकारिता अवश्य माननी पड़ेगी ।

1- काव्यप्रकाश-। नागेश्वरी टीका।, पृ० 3।

2- शब्दप्रमाणेषोडशी व्यंजकत्वार्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यंजकत्वे तद्व्यंग्यस्य सहकारिता ॥

शाब्दलोचनो व्यनवत्पर्ययः शाब्दोद्वयार्थान्तराश्रयः ।

एकस्य व्यंजकत्वे तदन्यस्य सहकारिता ॥¹

अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना में संबंध

=====

अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना इन तीनों शाब्द वृत्तियों में से अभिधा स्वतंत्र तथा स्वयंपूर्ण है। दूसरी किसी वृत्ति का आश्रय करने की उसे आवश्यकता नहीं होती। प्रत्येक शाब्द वाचक तो होता ही है। वाचक होने के लिए उसे लक्षक या व्यंजक होने की कोई आवश्यकता नहीं। परन्तु लक्षणा तथा व्यंजना की बात कुछ दूसरी है। लक्षणा के लिए मुख्यार्थ बाध आदि निमित्तों का उपस्थित होना आवश्यक है। ये निमित्त न हों तो लक्षणा का होना असंभव है। इसके अतिरिक्त, अभिधा का कार्य हो जाने के बाद, तात्पर्य की दृष्टि से जब तक मुख्यार्थ अनुपपन्न सिद्ध नहीं होता तब तक लक्षणा को अवतर ही नहीं मिलता। जिस प्रकार केवल वाचक शाब्द हो सकता है उस प्रकार केवल लाक्षणिक शाब्द नहीं हो सकता। लाक्षणिक शाब्द होने के लिए, पहले तो वह शाब्द वाचक होना चाहिए तथा उसका वाच्यार्थ तात्पर्य की दृष्टि से बाधित होना चाहिए। वह उस प्रकार बाधित हुआ हो तभी शाब्द लाक्षणिक हो सकता है, अन्यथा नहीं। अतएव कोई भी शाब्द एक ही समय वाचक और लाक्षणिक नहीं हो सकता। वाच्यार्थ तात्पर्य की दृष्टि से अनुपपन्न सिद्ध होते ही वाच्यार्थ को हटाकर लक्ष्यार्थ स्वयं उसके स्थान पर आ जाता है। अतएव लक्षणा को "अभिधा-पुच्छभूत" अर्थात् अभिधा का पुच्छ कहते हैं।

अभिधा और लक्षणा दोनों पर व्यंजना अवलंबित रहती है।

व्यंजना तब तक प्रवृत्त नहीं होती जब तक कि अपना-अपना कार्य करके अभिधा और लक्षणा निवृत्त नहीं होती । शब्द का केवल व्यंजक होना असंभव है । व्यंजक होने से पहले शब्द या तो वाचक होना चाहिए या लाक्षणिक होना चाहिए। वास्तव में कोई शब्द केवल लाक्षणिक भी नहीं हो सकता । किंतु व्यंग्यार्थ और लक्ष्यार्थ में एक महत्वपूर्ण भेद यह है कि लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ के साथ कभी नहीं आता । वह वाच्यार्थ को हटाकर उसके स्थान में आता है । इसके विपरीत व्यंग्यार्थ नित्य वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ के साथ आता है । अर्थात् शब्द या तो वाचक हो सकता है या लाक्षणिक हो सकता है । किन्तु एक ही शब्द वाचक और व्यंजक या लाक्षणिक और व्यंजक इस प्रकार उभयविध हो सकता है ।

=====

उपसंहार

=====

उपसंहार
=====

भारतीय-वाङ्मय में शब्द को ज्योति पुंज के रूप में कल्पित किया गया है । सम्पूर्ण ज्ञान इसी से अनुबद्ध है सभी दर्शन इसकी महत्ता का प्रतिपादन करते हुए नहीं आते हैं । आचार्यों ने शब्द को ध्वनि रूप और वर्ण रूप दो रूपों में विभाजित किया है। वर्ण रूप के कारण यही शब्द प्रत्यक्ष के समान ही अर्थ-बोध का माध्यम भी है । पंजलि की भी शब्द की उपयोगिता अर्थबोध कराने में ही अभिहित है । धैयाकरणों ने शब्द को ध्वनि और स्फोट दो रूपों में विभाजित किया है। काट्यशास्त्री भी धैयाकरणों की इस स्फोट विषयक मान्यता से प्रभावित हुए बिना न रह सके । उन्होंने धैयाकरणों से प्रभावित होकर व्यंजक शब्द और अर्थ दोनों को ही ध्वनि संज्ञा दी । काट्यशास्त्र का ध्वनि-शब्द वस्तुतः नाद और स्फोट तक ही सीमित नहीं है, अपितु उनके अनुसार व्यंजना-शक्ति, व्यंग्यार्थ और ध्वनि प्रधान काट्य की ध्वनि में समाहित है । मीमांसक, नेयायिक तथा वेदान्ती ध्वनि की सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं, किन्तु आलंकारिकों ने अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना इन वृत्तियों को स्वीकार किया है। आलंकारिकों तथा नट्य धैयाकरणों को छोड़कर मीमांसक तथा वेदान्ती भी अभिधा और लक्षणा इन दो ही शक्तियों को मानते हैं, किन्तु प्राचिन धैयाकरण कौण्डिल आदि अभिधा और व्यंजना को मानने के पक्षपाती हैं ।

मीमांसक अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्य-वृत्ति को मानते हैं । अभिधा को प्रत्यक्ष प्रमाण के समान सभी आचार्य निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं । नेयायिक तथा वेदान्ती इन वृत्तियों में से अभिधा और लक्षणा को स्वीकार करते

हैं। अविहितान्वयादी मीमांसक अग्निधा, लक्षणा और तात्पर्य वृत्ति को तथा अन्विताभिधान्वयादी अग्निधा एवं लक्षणा इन दो ही वृत्तियों को स्वीकारते हैं।

प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रथम अध्याय में संस्कृत काव्य शास्त्र एवं हिन्दी काव्य शास्त्र का संक्षिप्त विकास प्रस्तुत किया गया है।

संस्कृत का काव्यशास्त्र विकास-वृद्ध सिद्धान्तों का एक अमर कोश है। संस्कृत के काव्यशास्त्रीय उपलब्ध ग्रंथों के आधार पर भरतमुनि को काव्यशास्त्र का प्रथमाचार्य माना जाता है। इस परम्परा के अन्तिम उद्भासक आचार्य पंडितराज ज्ञानाथ हैं। लगभग छेद्-दो सहस्र वर्षों का यह शास्त्रीय साहित्य अपनी व्यापक विषय सामग्री, अपूर्व एवं तर्क सम्मत विवेचन पद्धति और अधिकारशायी एवं गंभीर शैली के कारण तथा विशिष्टता: नूतन मान्यताओं को प्रस्तुत करने के चल पर भारतीय वाङ्मय में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

हिन्दी काव्य शास्त्र का विकास दो भागों में प्रस्तुत किया गया है- रीतिकालीन काव्यशास्त्र और आधुनिक कालीन काव्यशास्त्र।

हिन्दी काव्यशास्त्र विषयक प्रथम ग्रंथ कूपाराम की "हिततरंगिणी" है। इसकी रचना विधि सं० 1598 है। इस ग्रंथ के पश्चात् गोपा का रसभूषण, मोहन लाल मिश्र का "गुंगारसागर" आदि ग्रंथ हिन्दी काव्यशास्त्रीय परंपरा में आते हैं, परन्तु विद्वज्जनों ने सिद्धान्त की दृष्टि से इनका विशिष्ट महत्त्व स्वीकार नहीं किया है।

वस्तुतः काव्यशास्त्रीय चिंतन पद्धति आचार्य केशव। सं० 1658। से प्रारंभ होती है। कवि और आचार्य दोनों दृष्टियों से उनका महत्त्व है। अतः हिन्दी काव्यशास्त्र के प्रथमाचार्य के रूप में उन्हीं का नाम परिगणित होता है। हिन्दी काव्यशास्त्र के अन्तिम आचार्य डॉ० नगेन्द्र माने जाते हैं।

आचार्य केशव से लेकर आधुनिक काल तक प्रवहमान हिंदी काव्यशास्त्र की परंपरा में जिन काव्यशास्त्रियों को विशिष्ट स्थान प्राप्त है उनमें से प्रमुख हैं - आचार्य चिंतामणि, कुलपति, देव, भिखारीदास, कन्हैयालाल जोशी, रामचंद्र गुप्त, बाबू गुलाब राय, श्यामसुंदर दास, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और डॉ० नगेन्द्र ।

संस्कृत और हिन्दी काव्यशास्त्र की विकासावधि में काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों में निरंतर कभी तीव्र और कभी मंद विकास होता रहा। जिसे प्रकाशित करने का प्रयास प्रथम अध्याय में किया गया है ।

द्वितीय अध्याय में शब्द शक्ति पर कार्य करने वाले प्रमुख आचार्यों एवं उनके कार्यों का परिचय। व्यंग्यालोक, अभिन्न कृत लोचन और अभिन्न भारती, काव्य प्रकाश, साहित्यदर्पण, रस मंगोदर के विशिष्ट संदर्भ हैं । प्रस्तुत किया गया है। इन ग्रंथों का आधार बनाकर चलने से इनमें निहित पूर्वपक्षीय छंदों के सहारे अन्य लोगों के कार्य उभर आते हैं जैसे मीमांसकों के और भैयाणिकों के।

तृतीय अध्याय में अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा एवं व्यंजना शब्द शक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है- "प्रसिद्ध अर्थ अथवा साक्षात् सकृत्तित अर्थ के बोधक के मूल कारण को अभिधा शब्द शक्ति कहते हैं ।

जो मुख्य अर्थ अथवा साक्षात् सकृत्तित अर्थ का बोध कराता है उसे वाचक शब्द कहते हैं, और स्पष्ट शब्दों में कहा जायती जिस शब्द का अर्थ अभिधा शब्द शक्ति द्वारा ज्ञात होता है, उसे वाचक शब्द कहते हैं । इसे सकृत्तित शब्द भी कहते हैं । किसी वाचक शब्द का अभिधा शब्द-शक्ति द्वारा ज्ञात अर्थ वाच्यार्थ कहा जाता है। वाच्यार्थ से तात्पर्य है किसी शब्द का निश्चय अथवा साक्षात् सकृत्तित अर्थ। वाच्यार्थ के अन्य नाम हैं- साक्षात् -सकृत्तित अर्थ,

मुख्यार्थ अथवा प्रतिद्वार्थ ।

शब्द और अर्थ के संबंध ज्ञान को संकेत ग्रहण कहा जाता है । यह संकेत ग्रहण निम्नोक्त कारणों से होता है- व्याकरण, उपमान, कोष, आप्त, वाक्य, व्यवहार, प्रसिद्ध पद का सम्बन्ध, वाक्यशैली निवृत्ति। विवरण व्याख्या अथवा टीका। इन कारणों में से सर्वप्रमुख कारण " व्यवहार " को समझना चाहिए, क्योंकि अधिकांशतः इसके द्वारा ही किसी भी भाषा से अनभिज्ञ कोई शिशु अथवा बालक भाषा बोलना सीखता है। व्यवहार के बाद दूसरा स्थान आप्त वाक्य " का है- "कोष" और " निवृत्ति" भी वस्तुतः एक प्रकार के आप्त वाक्य ही हैं ।

अभिधा शब्द शक्ति के निम्नोक्त भेद बताये गये हैं -

रुटि शक्ति, यौगिक शक्ति, योगरुटि शक्ति एवं यौगिक रुटि शक्ति ।

अभिधा शब्द शक्ति मुख्यार्थ तक सीमित है, चाहे कोई वाचक शब्द एकार्थक हो अथवा अनेकार्थक । प्रत्येक शब्दों का मुख्यार्थ नियत रहता है अतः उनके विषय में किसी प्रकार के संदेह का अवकाश नहीं है । अनेकार्थक शब्द के विषय में संदेह हो सकता है कि कवि को केवल एक अर्थ अभीष्ट है अथवा दोनों अभीष्ट हैं ।

अभिधा वृत्ति द्वारा वाक्यगत प्रत्येक पद का वाच्यार्थ ज्ञात हो चुकने के उपरान्त जिस वृत्ति द्वारा उन पदों के अन्वित अर्थ। तात्पर्य। का ज्ञान होता है, उसे तात्पर्य वृत्ति कहते हैं ।

कुछ मीमांसिक प्रभाकर के अनुयायी हैं और कुछ कुमारिल भट्ट के । प्रथम प्रकार के आचार्य " प्राभाकर " कहाते हैं और दूसरे प्रकार के भट्ट । इनमें से प्राभाकर मीमांसिक केवल अभिधावृत्ति को स्वीकार करते हैं और भट्ट मीमांसिक अभिधा के अतिरिक्त तात्पर्य वृत्ति को भी ।

प्राभाकर मीमांसकों के मत में अभिधा शब्द शक्ति के द्वारा वाक्य के अन्वित पदार्थों का बोध होता है। इसी कारण ये मीमांसक "अन्विताभिधानवादी" कहाते हैं। उदाहरणार्थ वह अपने घर जाता है। इस वाक्य के प्रत्येक पद का पृथक-पृथक अर्थ तो अभिधा द्वारा ज्ञात होता ही है, साथ ही इन पदों के अन्वित्य का अर्थ अर्थात् सारे वाक्य का तात्पर्य भी इसी शक्ति द्वारा ज्ञात होता है। किन्तु इसके विपरीत भाट्ट मीमांसकों के मत में अभिधा शक्ति के द्वारा केवल प्रत्येक पद का पृथक-पृथक अर्थ ही ज्ञात होता है, इसका अन्वित अर्थ अर्थात् वाक्यार्थ ज्ञात नहीं होता। अभिधा वृत्ति का क्षेत्र प्रत्येक पद के अर्थ निर्दिष्ट करने तक सीमित है, सम्पूर्ण वाक्य के तात्पर्य निर्देश के लिए एक अन्य वृत्ति माननी चाहिए, वह है- तात्पर्य वृत्ति। इनके मत में "अभिधावृत्ति से अभिहित अर्थात् प्रोक्त अर्थों का आपस में एक अन्य "तात्पर्य" नामक वृत्ति द्वारा अन्वय संबंध स्थापित करना पड़ता है। इसी कारण ये मीमांसक अभिहितान्वयवादी कहाते हैं।

सारांशतः किसी एक वाक्य के प्रत्येक पद के वाक्यार्थ। तात्पर्य-संकेतित अर्थों का ज्ञान जब अभिधा शब्द शक्ति द्वारा हो सकता है तब तात्पर्य वृत्ति द्वारा उन पदों के अन्वित अर्थ अर्थात् वाक्यार्थ का ज्ञान होता है।

जब कोई पद मुख्य वृत्ति अभिधा द्वारा विवक्षित अर्थ का बोध नहीं करा सकता तब उसके लिए नयी वृत्ति जिसे लक्षणा नाम से अभिहित किया जाता है, प्रवृत्त होती है। लक्षणा काव्य का प्राण है। इसका वर्णन मीमांसा, न्याय, व्याकरण वेदान्त तथा काव्य शास्त्रीय ग्रंथों में विविध स्थान मिलता है। लक्षणा के संदर्भ में लक्षणा विषयक विवेचन करने वाले आचार्यों तथा लक्षणा के विरोधी आचार्यों को प्रस्तुत किया गया है तथा लक्षणा विषयक मान्यताओं का परित्यक्त दिया गया है।

विविध आचार्यों ने लक्षणा शास्त्र के लक्षण प्रस्तुत किये हैं, परन्तु आचार्य मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' में जो लक्षणा का लक्षण दिया तथा परवर्ती आचार्यों ने जिसे स्वीकार कर अपने लक्षण ग्रंथों में विन्न-विन्न शाब्दावतियों के माध्यम से जो स्थान दिया, वस्तुतः लक्षणा का पूर्ण लक्षण कहा जा सकता है। जिसका अनुकरण परमानन्द चण्वर्ती आदि टीकाकारों ने तथा अजितसेन विद्यानाथ आदि लक्षण ग्रंथकारों ने किया ।

लक्षणा की भेदोपभेद तानिका में विश्वनाथ का स्थान मूल्य है। इन्होंने लक्षणा को 80 भेदों में विभाजित किया है। यद्यपि अनेक आचार्यों ने रुटि लक्षणा के सभेद निरूपित किया है किन्तु निरुद्ध लक्षणा को अष्टद्वया विभाजित करने वाले आचार्य विश्वनाथ उन आचार्यों की पंक्ति में सर्वप्रथम स्थान पर स्थित हैं । आचार्यों का बहुमत यह सिद्ध करता है कि रुटि लक्षणा में कोई शब्दार्थ अष्टद्वया प्रयोजन नहीं होता है, वह रुटिमुला है । अतः मम्मट -प्रभृति प्राचीन आचार्यों ने इसे शुद्धा तथा गोणी भेद से विभाजित नहीं किया और न ही वहाँ उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा की सत्ता मानी है, क्योंकि रुटिलक्षणा वाले शब्द चाहे सादृश्य सम्बन्ध के कारण चाहे किसी अन्य कारण से, तो भी उनके प्रयोग में स्वतंत्र नहीं है। वैसे भी शब्दों के निर्माण में जनता द्वारा समुच्चरित वाक्य प्रवाह मुख्य से कारण है । अतः मुकुलभट्ट की अभिधा वृत्ति मातृका तथा मम्मट कृत काव्य प्रकाश तथा अन्य ग्रंथों में भी प्राचीन आचार्य कुमारिल भट्ट की मान्यता अक्षुण्ण रूपेण विद्यमान पायी जाती है- कुछ लक्षणार्थ अभिधा की तरह सामर्थ्य रखने के कारण निरुद्ध हो गयी हैं । उनमें परिवर्तन करने का कोई अधिकार नहीं है, किंतु कुछ लक्षणार्थ प्रयोजन के कारण अब भी बनायी जा सकती हैं तथा कुछ अशक्य, अर्थात् प्रयोजन तथा रुटि की असत्ता के कारण असंभव हैं ।

कहने का अभिप्राय यह है कि निरुद्ध लक्षणा भी भाषा के प्रवाह से निर्मित हुई ।
उसके निर्माण में वचता का घटा नहीं है। कतिपय आचार्य रुद्धि लक्षणा को
विश्राजित करने के पक्षपाती हैं ।

आचार्य मुकुलभट्ट से अनुशाणित होकर मम्मट ने लक्षणा का जो वर्गीकरण
किया तदनुसार लक्षणा-रुद्धि तथा प्रयोजन मूलकत्वेन द्विधा विभक्त होती है।
प्रयोजनवती भी- उपादान, लक्षणा तथा आरोग्य एवं अध्यस्तान के आधार पर
बहुविधत्व को प्राप्त हो जाती है। आगे चल कर अधिकतर आचार्य इसी परिप्रेक्ष्य
में लक्षणा का विश्राजन स्वीकार करते रहे। जयदेव अच्युतराय आदि कुछ अववाद
स्वस्य आचार्यों को छोड़कर अन्य सभी आचार्य मम्मट प्रोक्त लक्षणा के बहुविधत्व में
कतिपय अकिंचित कर परिवर्तन तथा परिवर्धन करके उसे स्वीकारते रहे हैं ।

जहाँ तक लक्षणा के भेदों के नाम परिवर्तन का संबंध है तदनुसार कतिपय
आचार्यों ने उपादान लक्षणा तथा लक्षण लक्षणा के स्थान पर जहल्लक्षणा और
अजहल्लक्षणा का प्रयोग करना ही प्रियकर समझा । पंडित राज जगन्नाथ, अप्यय
दीक्षित आदि उन्हीं आचार्यों में से हैं । कुछ आचार्य वेदान्तिनों से प्रभावित होकर
उक्त दोनों भेदों के सम्मिश्रणात्मक तृतीय भेद जहदजहल्लक्षणा नामक प्रयोजनवती
लक्षणा को स्वीकार करते हैं । इस प्रकार के आचार्यों में विद्याधर , अप्पयदीक्षित,
विद्याभूषण आदि आचार्यों को लिया जा सकता है ।

मीमांसक गौणी को लक्षणा से भिन्न वृत्ति के रूप में मानते रहे हैं ।
गौणी और लक्षणा स्वतंत्र वृत्तियाँ थी त्रिवार्तिक से इसकी पुष्टि होती है।
तत्कालीन आचार्य लक्षणा के स्थान पर गुणवृत्ति या अमुख्य व्यापार शब्द का प्रयोग
करते हैं । आनंदवर्धन एवं अभिनवगुप्त ने गुण वृत्ति शब्द को ही अधिक
व्यवहृत किया था। मीमांसक चिरकाल तक गौणी वृत्ति की पृथक्ता का राग
अलापते रहे हैं, किंतु मुकुल भट्ट , आनंदवर्धन, अभिनव गुप्त आदि के संयुक्त

प्रयास के फलस्वरूप एवं आलंकारिकों के प्राबल्य के कारण शक्ति स्वी ज्ञे के माध्यम से गौणी और लक्षणा को एक साथ जोत दिया गया तथा परवर्ती मम्मट ने गौणी को लक्षणा के अंग रूप में ही उपन्यस्त कर गौणी को तदैव के लिए लक्षणा में ही अन्तर्भावित कर दिया ।

लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त अन्य प्रतीयमान अर्थ का बोध व्यंजना नामक व्यवहार से होता है, अतः प्रतीयमान- अर्थ का बोध न तो अभिधा से ही होता है और न लक्षणा से ही, क्योंकि अभिधा वाच्यार्थ का बोध कराकर विरत हो जाती है । अतः वाच्यार्थ से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति के लिए व्यंजना नामक शक्ति की आलंकारिकों ने स्वीकृति प्रदान की है । तृतीय अध्याय में इसको विवेचित किया गया है ।

व्यंजना शक्ति द्वारा प्रतीत अर्थ व्यंग्यार्थ कहा जाता है । इसे प्रतीयमानार्थ, ध्वन्यर्थ आदि भी कहते हैं ।

इसके प्रमुखतः दो भेद हैं - शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना ।

शाब्दी व्यंजना में व्यंजक शब्द की प्रधानता रहती है और आर्थी व्यंजना में व्यंजक अर्थ की । किंतु इन भेदों का अभिप्राय यह नहीं है कि शाब्दी व्यंजना में केवल शब्द ही और आर्थी व्यंजना में केवल अर्थ ही व्यंग्यार्थ के प्रतिपादन में व्यंजक होते हैं, अपितु दोनों अवस्थाओं में शब्द और अर्थ व्यंजक होकर एक दूसरे के सहायक बनते हैं । हाँ, शाब्दी व्यंजना में व्यंजक शब्द की प्रधानता रहती है तथा व्यंजक अर्थ की गौणता और आर्थी व्यंजना में व्यंजक अर्थ की प्रधानता रहती है तथा व्यंजक शब्द की गौणता-

तदयुक्तो व्यंजकः शब्दः सो अर्थाङ्गन्तरयुक्त तथा ।
अर्थोऽपि व्यंजकस्तत्र सहकारितया मतः ॥

-- काव्यप्रकाश-2/20

शाब्दी व्यंजना के दो भेद हैं- अभिधामूला व्यंजना एवं लक्षणामूला व्यंजना। जहाँ संयोग, विप्रयोग आदि नियामक हेतुओं द्वारा किसी अनेकार्थक शब्द के एक विशेष अर्थ में नियंत्रित । निर्णीत। हो जाने पर भी उस अर्थ की प्रतीति हो जो इस स्थिति में अवाच्य घोषित हो चुका हो, वहाँ अभिधामूला व्यंजना मानी जाती है ।

जो शब्द शक्ति निम्नोक्त दस विशिष्टताओं में से किसी एक के कारण अन्य अर्थ का बोध कराती है, उसे आर्थी व्यंजना कहते हैं । ये विशिष्टताएँ हैं- वक्ता, बोद्धव्य, वाक्य, अन्वयान्विधि, वाच्य, प्रस्ताव, प्रकरण, देश, काल, काकु । कण्ठवनि, घेष्टा आदि । इन्हीं विशिष्टताओं के आधार पर आर्थी व्यंजना दस प्रकार की मानी गयी है ।

=====

=====

परिगिट

=====

सहायक एवं संदर्भ ग्रंथ सूची
=====

- 1- अभिधावृत्ति मातृका, मुकुलभट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, 1973.
- 2- एकावली, विद्याधर, राजकीय ग्रंथशाला, बम्बई, 1903
- 3- काव्यकल्प लतावृत्ति, अमरचंद्रपति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1931.
- 4- काव्यप्रकाश सटीक, टीका, विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल, लिमिटेड, वाराणसी ।
- 5- काव्यप्रकाश, सटीक, टीका, विश्वनाथ, मंजु प्रकाशन, इलाहाबाद, 1979.
- 6- काव्यप्रकाश, सटीक, टीका, नागेश, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1967
- 7- काव्यालंकार, स्फुट, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1966
- 8- काव्यादर्श, दण्डी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1958
- 9- काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, वामन, हिंदी अनुसंधान परिषद, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली।
- 10- पन्द्रालोक, जयदेव, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1950
- 11- तंत्रवार्तिक, कुमारिलभट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस ।
- 12- दशरूपक, सटीक, मूठ धनंजय, टीका, धनिक साहित्य निकेतन, कानपुर, 1966
- 13- ध्वन्यालोक, आनंदवर्धन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
- 14- ध्वन्यालोक लोचन, अश्विनी गुप्त, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1965
- 15- परमलक्ष्मी मंजुषा, नागेश, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, 1974
- 16- न्याय सिद्धान्त मुक्तावली, विश्वनाथ न्याय पर्याप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस ।
- 17- भक्ति।लक्षणा। विवेक, गोकुलनाथ उपाध्याय, सम्पूर्णानंद विश्वविद्यालय, वाराणसी, वि०सं० 2032

- 18- मीमांसा शास्त्र भाष्य, भाग-1, शास्त्रस्वामी, युधिष्ठिर मीमांसक
बहालगढ़, सोनीपत, हरियाणा, 1970
- 19- रसगंगाधर, पंडितराज जगन्नाथ, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, बनारस,
वि.सं 20 20
- 20- रस गंगाधर टीका, मदनमोहन झा, वी० विद्याभवन बौक, वाराणसी, 1964
- 21- रस प्रदीप, प्रभाकर भट्ट, गवर्नेमण्ट प्रेस, इलाहाबाद।
- 22- रस चंद्रिका, विश्वेश्वर, वी० सं० सी० वाराणसी, 1983
- 23- लघु मंजूषा, नागेश. वी० सं० सी०, वाराणसी, 1971
- 24- वेदान्ततार, तम्पादक- सन्तनारायण श्रीवास्तव, 1968
- 25- वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली, प्रकाशानंद, अद्युतग्रंथ माला कार्यालय,
काशी, वि० सं० 1993
- 26- व्यक्तित्व विवेक, महिमभट्ट, वी० सं० 9 सी. वाराणसी, 1964
- 27- शाब्द व्यापार विचार, मम्मट, वी० सं० सी० वाराणसी ।
- 28- शास्त्रभाष्य, शास्त्रस्वामी, आनंदाश्रम ग्रंथालय, पुण्यपत्तन, 1931
- 29- शाब्द शाक्ति प्रकाशिका, जगदीश तर्कालंकार, कलकत्ता विश्वविद्यालय,
कलकत्ता, 1914
- 30- शृंगारप्रकाश, शौज, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1934
- 31- सरस्वती कण्ठाभरण, सटीक, टीका, रतनेश्वर, धीलम्बा औरियटालिया,
वाराणसी, 1976
- 32- सरस्वती कण्ठाभरण, शौज, वी० सं० सी० आ० वाराणसी, 1976
- 33- साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, भारतीय विद्याप्रकाशन, दिल्ली, 1978
- 34- साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली, 1970
- 35- साहित्यदर्पण, व्यास पाकार, विद्यावाचस्पति साहित्याचार्य श्री
शास्त्रात्म शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1977

- 36- शाब्द शक्ति प्रकाशिका, पुष्पोत्तम दास अग्रवाल, खोहरा प्रकाशन, लखनपुर ।
- 37- अभिनव भारती, अभिनवगुप्त, ओरियन्टल रिस्सर्च इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1956
- 38- संस्कृत साहित्य का इतिहास, ए. वी. कीय, अनु० मंगलदेव शास्त्री। मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1960
- 39- भारतीय काव्यशास्त्र, सत्यदेव घोषरी, अलंकार प्रकाशन दिल्ली ।
- 40- रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, डॉ० प्रेम स्वल्प गुप्त, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, 1962
- 41- आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, जयशंकर त्रिपाठी, लोकभारती प्रकाशन, 1968
- 42- रस सिद्धान्त के नये सदर्भ, डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, दि भैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया, नयी दिल्ली, 1977
- 43- लक्ष्मा और उसका हिंदी काव्य में प्रसार, डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, वि०सं०, 2023
- 44- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, भाग। व 2, एस्.के.के. अनुवादक- मायाराम शर्मा। बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1973
- 45- व्यंजना विमर्श, रविशंकर नागर, बन्दना प्रकाशन, दिल्ली, 1977
- 46- संस्कृत साहित्य का इतिहास, कन्हैयालाल पोद्दार, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, वि.सं० 2011
- 47- दशनि संप्रदाय और उसके सिद्धान्त, श्रीलाल शर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, वि.सं० 2013
- 48- शाब्दबोधविमर्शः, श्रीनाथसिंह, श्रीनाथसिंह, गोदोलिया, वाराणसी, वि०सं० 2028
- 49- अभिधाविमर्शः, श्रीशिवरत्न शर्मा, इन्स्टीट्यूट बुक डिस्ट्रिब्यूटर्स, दिल्ली 1980
- 50- रसमीमांसा-रामचन्द्रगुप्त
वितामणि, रामचन्द्र गुप्त, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सं० 2008

- 51- काव्यदर्पण, पं० रामदहिन मिश्र
- 52- काव्यालोक । रस उद्योतः, पं० रामदहिन मिश्र ।
- 53- काव्यकल्पद्रुमः दो भागः, कन्हैयालाल पोद्दार।
- 54- भारतीय साहित्यशास्त्रः दो खण्डः, बलदेव उपाध्याय
- 55- भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, डॉ० नगेन्द्र
रस सिद्धान्त, भैरानल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, 1964
आस्था के चरण, भैरानल पब्लिशिंग हाउस , दिल्ली
रीतिज्ञाव्य की भूमिका, डॉ० नगेन्द्र, संस्करण 2, 1953
- 56- हिन्दी वैष्णव साहित्य में रस परिकल्पना- डॉ० प्रेमचन्द्र गुप्त,
भैरानल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1969
- 57- काव्यांग विवेचन- डॉ० भगीरथ मिश्र, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद,
वि.सं० 2000
- 58- भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र- डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त
- 59- लोक श्रवणी प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971
रीतिकाल का पुनर्मूल्यांकन- डॉ० जयभगवान मोयल ।
- 60- रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन, गणपतिचन्द्र गुप्त, भैरानल पब्लिशिंग
हाउस, दिल्ली
- 61- कामायनी- जयशंकर प्रसाद, प्रसाद प्रकाशन, वाराणसी, 1980
- 62- बिहारी सतसई- रत्नकरी टीका, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1979
- 63- हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ० नगेन्द्र, भैरानल पब्लिकेशन्स हाउस,
हाउस, दिल्ली ।
- 64- हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र गुप्त, काशी नागरी प्रचारिणी
सभा, वि०सं० 2008
- 65- सिद्धान्त और अध्ययन, बाबू गुलाबराय
- 66- हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास- डॉ० भगीरथ मिश्र, लखनऊ
विश्वविद्यालय, प्रकाशन, 1967
- 67- काव्यशास्त्र- डॉ० भगीरथ मिश्र। द्वितीय संस्करण।
काव्य मनीषा-डॉ० भगीरथ मिश्र । प्रथम संस्करण।
- 68- साहित्यालोचन, डॉ० श्याम सुंदर दास

- 69- कवि प्रिया, आचार्य केशवदास
 70- रसिक प्रिया, आचार्य केशवदास
 71- आचार्य भिखारी दास, डॉ० नारायण दास छन्ना, लखनऊ
 विश्वविद्यालय, प्रकाशन, 1967
 72- रामचरितमानस, गोस्वामी तुलसीदास, गीता प्रेस गोरखपुर, वि०सं०
 2043, संस्करण- 49.

कोश =====

- 1- अमरकोष
 2- संस्कृत हिंदी कोश- वामन शिवराम आपटे ।
 3- बृहत् हिंदी कोश । तीसरा भाग। सम्पाद डॉ० ग्यामसुंदर दास,
 काशीनागरी प्रचारिणी सभा ।
 4- नातंदा विशाल शब्द सागर- आदर्श बुक डिपो, दिल्ली
 5- बृहत् हिंदी कोश, कालिका प्रसाद, राजवल्लभ सहाय,
 भुवनेश्वरीलाल प्रीवास्तव । सम्पाद। ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी ।